ISSN 2229-6328

भाग - अष्टात्रिंश, खण्ड - चतुर्थ

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका



अथर्ववेद में विविध विद्याएँ

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः अष्टात्रिंश, चतुर्थ खण्ड (वि. सं. २०८०)

अथर्ववेद में विविध विद्याएँ

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अक्टू. - दिस. २०२३ **मूल्य १००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,

मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)

दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:

pavamani86@gmail.com

• **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भाग: अष्टात्रिंश, चतुर्थ खण्ड

अक्टू.-दिस. २०२३

• प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

• प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु

०९८३७६४७४२७

प्रो. वाचस्पति मिश्र

०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२४ गते

• **सृष्टि आदितः** १,९६,०८,५३१२४ गते

• **युगाब्द** ५१२५

• **दयानन्दाब्द** १९९

सम्पादकीयम्

वैदिक साहित्य एवं संस्कृत भाषा ने भारतीय मनीषा के माध्यम से संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान एवं अध्यात्म की उदात्तता का जो दर्शन विश्व को प्रदान किया है, यह स्वयं में विश्वपटल पर कौतुहल एवं परम जिज्ञासा का विषय है। विगत दो-तीन शताब्दियों में यह अत्यधिक चर्चा एवं अनुसन्धान का विषय रहा है। वेदविषयक महर्षि मनु का कथन "**सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**" तथा "**सर्वज्ञानमयो हि सः**" सर्वथा सत्य एवं स्तुत्य है। क्योंकि वेदों के गहनतम अध्ययन के उपरान्त यह प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो जाता है कि उनमें आधुनिक विज्ञान से उदात्ततर वैज्ञानिक सिद्धान्तों व आविष्कारों का प्रतिपादन हुआ है। इन्हीं वेदों में ब्रह्मवेद, अङ्गिरोवेद, छन्दोवेद, भैषज्यवेद, क्षत्रवेद इत्यादि अनेक नामों से विख्यात अथर्ववेद अन्यतम व भूयसी विशिष्टता से युक्त है। मानव कल्याण में निहित सर्वविध ज्ञान का आकर यह अथर्ववेद निस्सन्देह विधाता की अनुपम देन है। इसमें न केवल पारलौकिकी उन्नति के अपितु ऐहिकैश्वर्य के साधक मन्त्रों का अद्भुत सङ्कलन है।

"**यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपा:**" अथर्ववेद के इसी भाव को ध्यान में रखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के तीसरे नियम का उल्लेख किया "**वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है**"। वस्तुतः अथर्ववेद आध्यात्मिक व व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी अनेक विषयों को स्वयं में

समेटे हुए है। कतिपय विषयों का संक्षिप्त रूप से ज्ञानावबोधन हम यहाँ कर सकते हैं। अथर्ववेद में मुख्य रूप से भैषज्य, आयुष्य, स्त्रीकर्म, राजकर्म, याज्ञिक कर्म, आध्यात्मिक कर्म, प्रायश्चित्तविधान, पृथ्वी महिमा, परमात्मस्वरूप विवेचन व सृष्ट्युत्पत्ति विषयक मन्त्र विद्यमान हैं।

विविध विज्ञान सम्बन्धी तथा गणितीय तथ्यों से परिपूर्ण अथर्ववेद का मन्त्र "**सूर्य नावम् आरुक्षः शतारित्रां स्वस्तये**" जहाँ सौ या सौ से अधिक पतवार (आरित्र) वाले विशाल समुद्री जहाज का वर्णन है, वहीं अथर्ववेद के एक सूक्त में ११ का पहाड़ा अवरोहक्रम में ऊपर से नीचे की ओर दिया गया गया है। इसमें नवतिर्नव (९९), अशीति अष्टा (८८), सप्त सप्ततिः (७७), षष्टिश्च षट् (६६), पञ्चाशत् पञ्च (५५) चत्वारः चत्वारिंशत् (४४), त्रयस्त्रिंशत् (३३), द्वौ च विंशति (२२), एकादश (११) इस प्रकार से वर्णन मिलता है।

इसी प्रकार ही मातृभूमि के प्रति समर्पित होने के भावों से समन्वित मन्त्रों का सङ्कलन भी अथर्ववेद में प्राप्त होता है। इसमें मातृभूमि की वन्दना एक भक्त पुत्र के माध्यम से की गई है- "**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**" इति। ऐसे ही "**वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम**" मन्त्र का यह भाग भी राष्ट्रहित में सर्वस्व बलिदान कर देने की प्रेरणा निरन्तर प्रदान करता है।

सामाजिक कुत्सित मानसिकता जहाँ नारी को अबला मानकर उसे समाज की मुख्यधारा से पृथक् करती है, वहीं नारी की गरिमा का प्रतिपादन करता हुआ अथर्ववेदीय ऋषि नारी को राष्ट्र का ध्वज कहकर उसकी महत्ता का प्रदर्शन करते हुए लिखता है- "**अहं केतुरहं मूर्धेति**"। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने भी वेद के इसी आदेश का पालन करते हुए नारी जाति के गौरव को पुनर्स्थापित करने के लिए जो प्रयत्न किया, वह अविस्मरणीय रहेगा।

इसी प्रकार "**स नो मुञ्चन्त्वहंसः**" अर्थात् वह परमेश्वर हमें पाप से मुक्त करे। प्रायश्चित्त सूक्त में निहित यह अथर्ववेद का मन्त्रखण्ड धार्मिक क्रियाओं व सामाजिक जीवन में किए गए अपराधों एवं पापों के परिमार्जन का विधान करता है। निरन्तर स्वस्थ रहने व दीर्घायु प्राप्त करने के उद्देश्य से भी अथर्ववेद में अनेक सूक्त मिलते हैं। इनमें शतायु होने व नीरोग रहने की प्रार्थनाएं की गई हैं। आयु के साथ ही प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्मतेज इत्यादि की भी याचना की गई है-

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।

मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।

ऐसे ही कुटुम्बीय भावना का भी विशदतया विवेचन करते हुए मन्त्र में '**अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्।**" अर्थात् पुत्र पिता का अनुव्रत हो अर्थात् उनके व्रतों को पूर्ण करे। पुत्र माता के साथ उत्तम मन वाला हो अर्थात् माता के मन को सन्तुष्ट करने वाला हो। पत्नी को चाहिए कि वह पति के साथ मीठी व शान्तिप्रद वाणी बोले।

ध्यातव्य है कि महर्षि यास्क अथर्वन् शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं- '**अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः"।** तदनुसार चित्तवृत्तियों के निरोधरूप योग का इसमें उपदेश है। इस प्रकार आध्यात्मिक सामग्री के साथ-साथ लौकिक तथ्यों का भी प्राचुर्य होने के कारण अथर्ववेद अन्य वैदिक संहिताओं से विलक्षण है।

वैदिक ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ (उ.प्र.) प्रतिवर्ष ०२ बार वैदिक शोध सङ्गोष्ठियों का आयोजन करता है। इस बार श्रावण शुक्ल एकादशी को **अथर्ववेद में विविध विद्याएँ** विषय पर वैदिक शोध सङ्गोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें देश के विभिन्न शिक्षण से

पधारे हुए विद्वान् मनीषियों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किए। पावमानी के प्रस्तुत अङ्क के माध्यम से ये लेख आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं। यह पावन वैदिक ज्ञान-विज्ञान जन-जन तक पहुँचे, परमपिता परमात्मा से यही प्रार्थना है।

प्रो० सोमदेव शतांशु

ओ३म्

राष्ट्रिया वैदिकशोधसङ्गोष्ठी

विषयः विविध-ज्ञान-विज्ञानस्य स्रोतः अथर्ववेदः

तिथिः- पौ.शु. द्वितीया, वि.सं. २०८० (तदनुसारम् १३.०१.२०२४)

वैदिकवाङ्मयस्य लब्धप्रतिष्ठविदुषां प्रथितयशसां पूज्यानां **स्वामि समर्पणानन्दसरस्वतीमहाभागानाम् (पं. बुद्धदेवविद्यालङ्काराणाम्)** निर्वाणदिवसम् अभिलक्ष्य पौषमासस्य शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां तिथौ **स्वामिसमर्पणानन्दवैदिकशोधसंस्थानेन "विविध-ज्ञान-विज्ञानस्य स्रोतः अथर्ववेदः"** इति विषयमाधृत्य राष्ट्रिया वैदिकशोधसङ्गोष्ठी समायोज्यते। अस्यां वैदिकशोधसङ्गोष्ठ्यां तत्रभवन्तः सादरमामन्त्रिताः। भवदीया गरिमामयी उपस्थितिः नूनमेव शोधसङ्गोष्ठीमिमां समलङ्करिष्यति।

शोधसङ्गोष्ठ्याः उपविषयाः

अथर्ववेदे अध्यात्मविज्ञानम् - अथर्ववेदे सृष्ट्युत्पत्तिवर्णनम्, अथर्ववेदे आत्मस्वरूपम्, अथर्ववेदे ईश्वरस्वरूपम्।

अथर्ववेदीयम् आयुर्विज्ञानम् - अथर्ववेदीयकायचिकित्सा-शाल्यतन्त्र-शालाक्यतन्त्र-कौमारभृत्य-अगदतन्त्र-भूतविद्या-रसायनतन्त्र - वाजीकरणादिकम्, अथर्ववेदे मधुविद्या, अथर्ववेदीया मणिचिकित्सा, अथर्ववेदीया मन्त्रचिकित्सा, अथर्ववेदीया सङ्कल्पचिकित्सा, अथर्ववेदीया स्पर्शचिकित्सा, अथर्ववेदीया अग्निचिकित्सा, अथर्ववेदीया जलचिकित्सा, अथर्ववेदीया वायुचिकित्सा, अथर्ववेदीया सूर्यचिकित्सा।

अथर्ववेदीयं समाजविज्ञानम् - वर्तमानसामाजिकसमस्यानाम् अथर्ववेददृशा समाधानम्, वर्तमानपारिवारिकसमस्यानाम् अथर्ववेददृशा समाधानम्।

अथर्ववेदीयं शिक्षादर्शनम्, अथर्ववेदे राष्ट्रियाचेतना च।

उपर्युक्तविषयेषु कमप्येकं विषयमवलम्ब्य शोधपत्रं प्रस्तोतव्यम्।

शोधसंगोष्ठ्यां पञ्जीकरणाय किमपि शुल्कम् नास्ति। शोधसङ्गोष्ठ्यां प्रस्तुतानि मूल्याङ्कितानि शोधपत्राणि 'पावमानी' (ISSN 2229-6328) त्रैमासिकशोधपत्रिकायां प्रकाश्यन्ते। शोधपत्रं यूनिकोडफोण्टमाध्यमेन टङ्कितम्, १५००-२००० शब्दपरिमितं च स्यात्। शोधपत्रं pavamani86@gmail.gom अणुवाक्मध्ये प्रेषणीयम्।

अध्यक्षाः - **स्वामिविवेकानन्दसरस्वतीमहाभागाः**

कुलाधिपतयः गुरुकुल-प्रभाताश्रमः

निदेशकः – **प्रो. मानसिंहः**

पूर्वाचार्यः कु.वि.वि. कुरुक्षेत्रम्

परामर्शकौ –

प्रो. सोमदेवशतांशुः
कुलपतिः
गु.का.वि.वि. हरिद्वारम्

डा. वाचस्पतिमिश्रः
अध्यक्षचरः
उत्तरप्रदेश-संस्कृत-संस्थानम्

संयोजकः – **डा.वेदव्रतः**

गु.का.वि.वि. हरिद्वारम्

आयोजकः –

स्वामि-समर्पणानन्द-वैदिक-शोध-संस्थानम्, गुरुकुल-प्रभाताश्रमः

भोला-झालम्, टीकरी, मयराष्ट्रम् (उ.प्र.) २५०५०१

सम्पर्कसूत्रम्- ९३५४४८४०२०, ८२९९१९६३७३

अनुक्रमणिका

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती[1]

ऋषि दयानन्द की यही विशेषता रही कि उन्होंने अपने गुरु श्री विरजानन्द जी के निर्देश पर धर्म के मूल वेद को सुरक्षित रखने का सङ्कल्प लिया और इसी के प्रचार के लिए अपने आप को समर्पित कर दिया। एक बार की घटना है कि कुछ आर्यविद्वान् आपस में विचार-विमर्श कर रहे थे। उनमें से वेद पर दृढ़ आस्था रखने वाले तथा उस पर चलने का आग्रह करने वाले व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति ने आक्षेप करते हुए प्रश्न किया कि क्या आपने वेद पढ़ा है? तो उस सदस्य ने एक बहुत अच्छा उत्तर दिया कि- मैंने वेद नहीं पढ़ा है, किन्तु जिसने सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि आदि ग्रन्थ लिखे हैं, उसने वेद पढ़ा था और हमें उसके निर्देशों का पालन करना चाहिए, क्योंकि वेद में जो कुछ उत्तमोत्तम है, उसको उन्होंने दर्शाया है। आक्षेपकर्त्ता महोदय मौन हो गए।

आज इस घटना के उल्लेख करने का केवल यही उद्देश्य है कि ऋषि दयानन्द ने यह लिखा है कि सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य

[1] **कुलाधिपति, गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोलाझाल, मेरठ**

वर्तना चाहिए। विश्व को छोड़ो, क्या अपने सङ्गठन में उस प्रीति का, जो वेदमन्त्र (**अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या**)[२] का निष्कर्ष है, पालन कर रहे हैं? यदि नहीं तो क्या हमने वेद को समझने का प्रयास किया है? ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त, जिसे संज्ञान सूक्त के नाम से जाना जाता है, उसमें भी **सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥१॥ समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥२॥ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥३॥**[३] मन्त्रों के द्वारा उपसंहार किया है। इनका अभिप्राय चाहे और कुछ भी हो, किन्तु सामान्यतः यह तो दृष्टिगोचर होता ही है कि परस्पर प्रेम-सौहार्द तथा सङ्गठन के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। यदि सफलता प्राप्त करनी है तो सङ्गठित होना आवश्यक है, क्योंकि सङ्गठन में ही शक्ति है- '**संघे शक्तिः**' और धर्म जैसे कार्य की सिद्धि के लिए तो अत्यधिक शक्ति की आवश्यकता है, क्योंकि यह कार्य सुशिक्षित करने का है, अर्थात् सभी को श्रेष्ठ मार्ग पर चलाने का है। सभी श्रेष्ठ मार्ग का अनुसरण स्वाभाविक रूप से नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। उन सभी विभिन्न प्रवृत्ति वालों को एक सत्प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करना सरल नहीं है। आचार्यों ने कहा है- '**सुखस्य मूलं धर्मः**'[४]। अर्थात्- सुख का मूल धर्म है। धर्म क्या है? इसके लिए उन्होंने कहा- '**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः**

---

[२] अथर्ववेद- ३.३०.१

[३] ऋग्वेद १०.१९१.२-४

[४] अर्थशास्त्र (चाणक्य)

स धर्मः[५], **चोदनालक्षणो धर्मः, वेदविहितकर्मजन्यो धर्मः'**[६] इनका सामान्य अर्थ यही है कि जिससे मनुष्य को ऐहिक और पारलौकिक अर्थ की प्राप्ति हो, जो सत्कार्य में प्रवृत्ति की प्रेरणा देता हो तथा वेद में जिन कर्मों का विधान किया गया है, वही धर्म है। अब यह निश्चय हो गया कि धर्म सुख का मूल है और सुख के मूल का ज्ञान होना ही चाहिए। ऋग्वेद के विभिन्न सूक्तों के कथा-संवादों, आख्यान-उपाख्यानों के माध्यम से मनुष्य के अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि के उपाय दर्शाए गए हैं। उन उपायों के अनुसार चलने से ही अपने अभीष्ट की सिद्धि होगी, केवल उनके ज्ञानमात्र से नहीं। जिस प्रकार आयुर्वेद में कही हुई औषधियों के गुण ज्ञान लेने मात्र से मनुष्य स्वास्थ्यलाभ नहीं कर सकता, अपितु उन औषधियों के विधिवत् सेवन से ही मनुष्य स्वास्थ्यलाभ कर सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऋषि दयानन्द ने जिस धर्ममूल वेद के प्रचार का डिण्डिम घोष किया, वह अनेक विरोधों के बाद भी सूर्य की भाँति चमका। जैसे सूर्य आकाश में आता है तो हम बहुधा देखते हैं कि मेघ उसे आच्छादित करते हैं, किन्तु सूर्य अपने तीव्र प्रकाश के कारण उनको छिन्न-भिन्न करते हुए लोक को प्रकाश प्रदान करता ही है। हम यह भी देखते हैं कि किसी भी महापुरुष को अपने जीवनकाल में उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई, जितनी कि ऋषि दयानन्द को प्राप्त हुई। बुद्ध, महावीर, ईसा, मूसा, मुहम्मद, जरथुस्त्र चाहे कोई भी रहा हो, वह अपने जीवनकाल में इतने व्यापक रूप से विश्व में प्रचलित नहीं हुआ। अपने जीवनकाल में बुद्ध व महावीर बिहार की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर

---

[५] वैशेषिक दर्शन १.१.२

[६] मीमांसादर्शन (अर्थसंग्रह)

पाए और यदि बुद्ध कुछ आगे बढ़े भी तो सारनाथ से आगे वे काशी तक भी नहीं पहुँचे। इसी प्रकार मुहम्मद अरब के मक्का-मदीना से आगे नहीं निकल सके। ईसामसीह का तो अत्यन्त सीमित क्षेत्र रहा, किन्तु बाद में उनके मानने वालों के पुरुषार्थ से वे सब विश्वव्यापी हो रहे हैं। अन्ततः वेदज्ञान के अप्रतिम सूर्य का प्रकाश महर्षि दयानन्द के अनुयायियों के द्वारा उतना प्रसरित नहीं हुआ, जितना कि उसे होना चाहिए था। वेदज्ञान का सिद्धान्त मानवता के कल्याण का सिद्धान्त है। जिस प्रकार सूर्य, जल, वायु भेदभावरहित सबके लिए हैं, उसी प्रकार वेदज्ञान भी सबके लिए उपादेय है। पुनरपि हम आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। उसमें मुख्य कारण सङ्गठन का अभाव है। जिस वेदज्ञान के प्रसार का उद्घोष ऋषि दयानन्द ने किया था, उनके समक्ष तथा उनके पश्चात् भी उसके प्रसार के लिए अनेक विभूतियाँ उत्पन्न हुई, जिनका ज्ञान, चरित्र, तप, तेज बहुत उत्कृष्ट था, किन्तु उन विभूतियों में आपस में सामञ्जस्य नहीं हो सका। इसका लाभ उठाते हुए मो.क. गाँधी जैसे लोग यह लिखने में कुछ भी सङ्कोच नहीं कर सके कि- 'सत्यार्थ प्रकाश से अधिक निराशाजनक पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी'। हैदराबाद के आन्दोलन के समय भी जब हैदराबाद के निजाम का अत्याचार आर्यजनता पर हो रहा था तो आर्य समाज ने दृढतापूर्वक उसका विरोध किया और स्थान-स्थान पर वैदिक मान्यताओं की रक्षा के लिए आन्दोलन चलाए। उस समय भी मो.क. गाँधी ने इस आन्दोलन का विरोध किया और कांग्रेसी नेता घनश्यामदास गुप्त को आन्दोलन को दुर्बल बनाने के लिए हैदराबाद भेजा, किन्तु स्वातन्त्र्य वीर सावरकर के प्रोत्साहन के कारण आर्य नेताओं का उत्साह भङ्ग नहीं हुआ। मो.क. गांधी के प्रचण्ड विरोध को देखकर ही उस समय के प्रसिद्ध

उपदेशक कुँवर सुखलाल ने कहा था- '**मदद कर या न कर प्यारे गाँधी, मगर इतना कह दे बुरा हो रहा है।**'

अब यहाँ यही प्रश्न होता है कि मो.क. गाँधी का सत्यार्थप्रकाश या आर्यसमाज द्वारा देशहित में किए जाने वाले कार्यों का विरोध करने का साहस कैसे हुआ? क्या बाइबिल या कुरान के बारे में कभी मो.क. गाँधी यह कहने का साहस कर सकते थे कि कुरान या बाइबिल से अधिक निराशाजनक पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी, जिनमें मानवता के विरुद्ध अनेक बातें उल्लिखित हैं। बाइबिल के मानने वाले देशों में ही ऐसे अनेक विद्वान् हुए, जिन्होंने बाइबिल की शिक्षा की अनेक अपूर्णताओं का दर्शन कराया और बाइबिल के मानने वालों में कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट दो भाग हो गए। एतद्तिरिक्त छोटे-मोटे भाग तो अनेक हैं। कुरान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। शिया, सुन्नी, बहाई, कुर्द आदि बीसों सम्प्रदाय कुरान के मानने वालों के द्वारा ही प्रसरित हुए, किन्तु फिर भी वे सभी वैदिक मान्यतों के विरोध में सङ्गठित होकर एक हो जाते हैं, जबकि हम वैदिक धर्मावलम्बी एक मान्यता वाले होकर भी किन्हीं क्षुद्र स्वार्थों के कारण सङ्गठित नहीं रह पाते। अंग्रेजों के भय से भाई परमानन्द को डी.ए.वी. कॉलेज से निष्कासित कर दिया गया। लाला लाजपत राय का नाम एक रात में ही आर्यसमाज की पञ्जिका से निकाल दिया गया। इस घटना से पीड़ित होकर श्री योगी अरविन्द जी ने भी लिखा कि जिस वीर भूमि लाहौर में ऋषि दयानन्द ने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ आर्यसमाज की स्थापना की, वहीं के लोगों के द्वारा इतना बड़ा निन्दनीय तथा आम्भी, मानसिंह, जयसिंह जैसा आत्मसमर्पणात्मक कार्य शोभा नहीं देता। आपसी फूट का आर्यसमाज के उस स्वर्णयुग में भी क्या स्वरूप था, इसका अवलोकन तो श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा लिखित पुस्तक

"दुःखी दिल की पुरदर्द दास्तां" में हम कर सकते हैं तथा 'कल्याण मार्ग के पथिक' में श्री गुरुदत्त जी के ऊपर भी अपने लोगों के द्वारा ही आक्षेप किए जाने का वृतान्त देखा जा सकता है। सन् १९३५ में हैदराबाद में होने वाले आर्य विद्वानों एवं पौराणिक विद्वानों के शास्त्रार्थ में भी आर्यसमाज के कुछ लोगों ने ही पं. बुद्धदेव जी को नीचा दिखाने का प्रयास किया और इसके बाद उनको आर्यसमाज से निकाल भी दिया। जबकि वास्तविकता यह थी कि शास्त्रार्थ में माधवाचार्य आदि की घोर पराजय हुई थी, किन्तु परस्पर के वैमनस्य ने वहाँ भी अपना रङ्ग दिखलाया।

पं. बुद्धदेव जी की वेद विषय की विद्वत्ता असंदिग्ध थी। इसी से अभिभूत होकर पं. भवगवद्दत्त रिसर्च स्कालर ने कहा था- 'धरतीतल पर वेद विषय की किसी को भी इतनी सूझ नहीं, जितनी की पं. बुद्धदेव जी को है।' सनातन धर्म के महारथी स्वामी हरिहरानन्द करपात्री जी तो लाखों सैद्धान्तिक भेद होने पर भी उनके वेदपाण्डित्य से अभिभूत थे।

शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ, लेखराम, पं. गुरुदत्त और स्वामी श्रद्धानन्द आदि समर्पित लोगों के रहते तथा अनेक उज्ज्वल, उदात्त कार्यों के पश्चात् भी हम क्यों उपेक्षित हुए? उसका मुख्य कारण गुटबन्दी का महारोग ही है, जो आज भी हमारा पीछा नहीं छोड़ रहा है। इन्हीं बातों को लेकर राजेन्द्रनाथ शास्त्री ने 'दयानन्द-सन्देश' का 'दिल-जला' नाम से एक विशेषाङ्क भी प्रकाशित किया था। चाहे सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक कार्य हो, उन सभी क्षेत्रों में वैदिक विचारधारा के लोग रहे, किन्तु वहाँ भी हम गुटबन्दी के कारण उपेक्षित हुए। इन सभी बातों को देखकर ही एक प्रबुद्ध आर्यसमाजी व्यक्ति ने कहा था कि- 'आर्यसमाज में कोई भी उत्कृष्ट विद्वान् या उत्कृष्ट व्यक्ति नहीं है और इसका प्रमाण

भी मेरे पास है। प्रमाण पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि ये आपस में ही एक-दूसरे को हेय सिद्ध करने में लगे रहते हैं, तब ये उत्कृष्ट विद्वान् कैसे हो सकते हैं? विपक्षी को प्रमाण ढूँढ़ने की आवश्यकता ही नहीं, ये स्वयं ही परस्पर में प्रमाण हो जाते हैं।

आज जितनी शिक्षण संस्थाएँ तथा सामाजिक कार्य करने वाली अनाथालय आदि संस्थाएँ आर्यसमाज के पास हैं, क्या इतनी संस्थाएँ सरकार को छोड़कर किसी अन्य के पास हैं? उत्तर मिलता है कि- नहीं। फिर क्यों उपेक्षित रहे? उत्तर पुराना और नया दोनों एक ही है- परस्पर सामञ्जस्य का अभाव अर्थात्- गुटबन्दी। आज भी यदि यह दूर हो जाए तो वैदिक ध्वजा विश्व में पुनः लहरा उठेगी। "**एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः। अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा**[७]॥" वेद का यह उद्घोष सत्य होगा। '**अस्माकं वीराः उत्तरे भवन्तु**'[८] की भावना सार्थक होगी। वेदप्रचार सार्थक सिद्ध होगा।

---

[७] अथर्ववेद ५.२१.१२

[८] ऋग्वेद १०.१०३.११

स्वामी समपर्णानन्द सरस्वती जी के अथर्ववेद भाष्य का वैशिष्ट्य

प्रो० सोमदेव शतांशु[1]

चारों वेदों में अथर्ववेद का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऐहिक सुख-शान्ति, विविध कष्टनिवारण, आचारशिक्षा, आयुर्वेद, राजनीति, नीतिशिक्षा, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिकज्ञान, सृष्टिविषयक विद्या, उद्योग आदि का ज्ञान सन्निहित है। गोपथब्राह्मण में इसे श्रेष्ठ वेद कहा गया है -

श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधि जातो ब्रह्मज्ञानां हृदये सम्बभूव। (१.९)

भेषजरूपेण साक्षात् जीवन सन्धायक होने से इसे अमृत एवं अमृतरूप होने से इसे ब्रह्म कहा गया है -

एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद्भृग्वङ्गिरसः। योऽङ्गिरसः स रसः।
योऽथर्वाणस्तद्भेषजम्। यद्भेषजं तदमृतम्। यदमृतं तद्ब्रह्म।

गोपथब्राह्मण २.१९

अथर्ववेदज्ञ की महत्ता को बताते हुए अथर्वपरिशिष्ट में वर्णित है -

---

[1] **कुलपति, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार**

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः।
निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरूपद्रवम्॥ ४.९

अथर्ववेद से सम्बद्ध गोपथब्राह्मण, उपनिषद्, कल्पसूत्र अथर्व परिशिष्ट आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अथर्ववेद पर आचार्य सायण का सम्पूर्ण भाष्य उपलब्ध है। पाश्चात्य विद्वानों में आर.टी.एच. ग्रिफिथ, डब्लू.डी. ह्विटनी, एम. ब्लूमफील्ड का अंग्रेजी में अनुवाद उपलब्ध है। भारतीय विद्वानों में श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, जयदेव विद्यालङ्कार तथा श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का हिन्दी भाषा में भाष्य उपलब्ध है। श्री सातवलेकर जी ने मन्त्रों के भावों को स्पष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ आचार्य सायण ने कैशिकसूत्र, अथर्वपरिशिष्ट, वैतानश्रौतसूत्र आदि अथर्ववेदीय साहित्य के आधार पर मन्त्रों का अर्थ प्रदान किया है। पण्डित बुद्धदेव विद्यालङ्कारकृत अथर्ववेद का भाष्य अपने आप में अद्वितीय है। पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार अपने पूर्व भाष्यकारों द्वारा आलोकित वेदार्थ के प्रकाश में अपनी अद्भुत ऊहाशक्ति, समकक्षवाद, यौगिकवाद एवं विज्ञाताश्रयवाद आदि के आधार पर **अनन्ताः वै वेदाः** इस तथ्य को ध्यान में रखकर अथर्ववेद के सम्पूर्ण रहस्य को उद्घाटित करने में समर्थ हुए हैं, ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

स्वामी जी ने भाष्य ऋषि, देवता, छन्द, व्याकरणगत पूर्वापर प्रसङ्ग, प्रकृति, प्रत्यय, समास, स्वर, निरुक्त, ब्राह्मणग्रन्थ, आयुर्वेद तथा आधुनिक चिकित्साविज्ञान को ध्यान में रखते हुए एक विशुद्ध भाष्य देने का प्रयास किया है। इसमें भूतप्रेत पिशाच आदि भ्रम को दूर कर उनका भी विज्ञान एवं शास्त्रसम्मत अर्थ प्रस्तुत किया है। विषयवस्तु के सुस्पष्ट प्रतिपादन के साथ संस्कृत भाषा की जो सरसता, लालित्य एवं

प्रवाहशीलता है, वह भी चमत्कारिणी तथा हृदयहारिणी है।

पं० बुद्धदेव जी ने अङ्गिरस वेद एवं अथर्ववेद पदों की व्युत्पत्ति का अनुसरण करके ही इस भाष्य की भूमिका प्रारम्भ की है। इस वेद में शरीर के लिये उपयोगी तत्त्वों का वर्णन है। शरीर की सारी चेष्टा सप्त धातुओं तथा प्राण के कारण होती है। इन सप्त धातुओं का आधार अङ्गार (कार्बन) नामक एक तत्त्व है। अङ्गार का ही दूसरा नाम अङ्गिरस है। प्राण का भी दूसरा नाम ब्राह्मण ग्रन्थों में अङ्गिरा स्पष्टतः प्रतिपादित है। प्राण और धातु इन दोनों को बताने वाले अङ्गिरा की व्याख्या इस वेद में होने के कारण इसकी अङ्गिरस वेदसंज्ञा है। अपरतः अथर्वशब्द गत्यर्थक 'थर्व' धातु से निष्पन्न होता है। थर्वणरहित अर्थात् अविचलित स्थिर मति वाला होकर जो ज्ञान के उपार्जन में लगता है, वह पुरुष अथर्व कहलाता है। ज्ञान पिपासु अथर्वा लोगों के लिये उपयोगी होने से इस वेद का दूसरा नाम अथर्ववेद है। इस प्रकार यह वेद आयुर्वेद के साथ विभिन्न ज्ञानविज्ञान का भी वेद है। इसका अनुसरण करते हुए पण्डित जी ने अपने भाष्य में मन्त्रों को यज्ञपुरुष के अङ्गीभूत पुरुष के लिये हितकारी प्रतिपादित करते हुए चिकित्साशास्त्रीय विभिन्न तथ्यों के उद्घाटन के साथ अधिराष्ट्र, अधिविद्य एवं सामयिक आदि सुन्दर युक्तियुक्त अर्थ प्रस्तुत किये हैं।

प्रथम मन्त्र की व्याख्या के प्रारम्भ में जो संगति प्रदर्शित की गयी है, वह अद्भुत है। अज्ञान शत्रु के बध के लिये परम शरण्य ज्ञान के स्वामी वाचस्पति से त्रि सप्त के समवाय के रूप जो विविधज्ञान विद्यमान है, उनके बल को प्राप्त करने की प्रार्थना की गयी है। वेदों में जहाँ सुख ऐश्वर्य आदि की प्रार्थना है- वहाँ (नः) हमें बहुवचनान्त प्रार्थना मिलती है किन्तु यहाँ (मे) मुझे यह एकवचनान्त पद अथर्ववेद के

व्यक्तिहितकारित्व की मुख्यता को इङ्गित करता है। व्याख्या में 'ये त्रिषप्ताः' का पण्डित जी ने जहाँ विद्यार्णव सायणाचार्य के आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक, व्याकरणशास्त्रीय, आयुर्वेदिक, राजनैतिक, सङ्गीतशास्त्रीय, रसायनशास्त्रीय आदि विविध अर्थ प्रस्तुत किये हैं, इसके साथ वे लिखते हैं - यदि 'त्रिषप्ताः' ने संसार के सारे अर्थों को धारण करना है तो इस पद के अनेक अर्थ करने ही होंगे। यह 'त्रिषप्ताः' पद वाणीद्वय के द्वारा वर्णन किये जाने वाले सभी पदार्थों को अपने भीतर समाविष्ट किये हुए है, ऐसे बह्वर्थगर्भ शब्दों का परम पुरुष भगवान् के अतिरिक्त और कौन प्रकाश कर सकता है?

संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि। अथर्व. १.१.४

मन्त्रोक्त (गमेमहि) बहुवचनान्त प्रयोग के साथ (विराधिषि) एकवचनान्त प्रयोग के भाव को स्पष्ट करते हुए पं० बुद्धदेव जी लिखते हैं- 'जिससे केवल मैं ही नहीं, हम सारे ज्ञान से संयुक्त हो सकें" (अथर्ववेद भाष्य पृ. १३)

वृक्षं यद्गावः......... शरुमस्मभावय दिद्युमिन्द्र। (अथर्व० २.२.३) की सायण व्याख्या में पूर्व सूक्त में सूचित अर्थ का प्रवाहभङ्ग उपस्थित हो जाता है। अतः इस अर्थ को अस्वीकारते हुए पण्डित जी ने- **'दिद्युम्- प्रकाशमान, शरूम्- अज्ञान के हिंसक ज्ञानरूप शर को, अस्मत् हमसे, यावय- अज्ञानशत्रु को मारने के लिये छुड़वाइये'** ऐसा सुसङ्गत अर्थ किया है।

इस भाष्य में विद्यामार्तण्ड पण्डित बुद्धदेव जी का आयुर्वैदिक तथा आधुनिक चिकित्साशास्त्रीय ज्ञान पदे-पदे परिलक्षित होता है । यथा- मन्त्र १.३.१ में 'शर' का अर्थ 'दर्भ' तथा ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर जल अर्थ कर यह मन्त्र ब्रह्मचारी को सहवीर्य एवं जितेन्द्रिय करने में कैसे

सहयोगी है, इसे विभिन्न प्रमाणों से सिद्ध किया है। (अ.भा. पृ. २२-२३)

इसी प्रकार -

अप्सु मे सोमोऽब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।

अग्निं च विश्वशम्भुवम्॥ (१.६.२.) के भाष्य में पं० बुद्धदेव जी ने जलचिकित्सा एवं अग्नि-स्वेदचिकित्सा आदि का सूत्र प्रदर्शित किया है। (अथर्ववेद भाष्य पृ.६२)

द्वितीय अनुवाक के प्रारम्भ में भी जल एवं अग्नि की सहायता से शरीर में पनपने वाले विविध यातुधानों को कैसे नष्ट किया जा सकता है? उसका विस्तार से प्रतिपादन किया है। (अथर्ववेद भाष्य, पृ. ६६-६७)

विद्या शरस्य पितरं स मित्रं शतवृष्ण्यम्। (अथर्व. १.३.२)

तथा **विद्या शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्।** (वहीं १.३.३) की व्याख्या में आचार्य सायण ने मित्र का दिन एवं वरुण अर्थ कर दोनों के वृष्टिकारकत्वेन शरदर्भा या मुञ्ज का जनक प्रतिपादित किया, वहीं पण्डित बुद्धदेव जी ने अपनी विचक्षणता एवं अद्वितीय ऊहा शक्ति से ब्राह्मणग्रन्थों के अनेक प्रमाणों से **प्राणो वै मित्रः** (शतपथ ब्रा. ६.५.१.५.८, ८.४.२.६) **प्राणोदानौ वै मित्रावरुणाविति** (वही १.८.३.१२) आदि प्रमाणों से मित्र का अर्थ प्राण एवं वरुण का अर्थ उदान किया है तथा प्राण-आक्सिजन एवं उदान-हाईड्रोजन से जल उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

पं० बुद्धदेव जी ने प्राण अपान के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तधारणा का अनेक प्रमाणों से उच्छेद कर उसका शुद्धस्वरूप प्रतिपादित किया है। प्राण- अपान के प्रसङ्ग में श्री तडित्कान्त जी के प्रश्नों का उत्तर भी युक्तियुक्त प्रदान किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने किसी प्रसङ्ग में लिखा है - बाहर जाने वाला प्राण और भीतर आने वाला अपान है।

तडित्कान्त जी ने जब उक्त उद्धरण देकर यह पूछा है कि क्या आप स्वामी दयानन्द जी को भी नहीं मानते, तब महर्षि के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा तथा उनका प्रत्युत्पन्नमतिनिसृत उत्तर अतीव प्रशंसनीय है। पण्डित जी लिखते हैं - 'वहाँ उनका कथन वनस्पति जगत् के सम्बन्ध में है, हम जिस वायु को बाहर छोड़ते हैं, वह हमारे लिये अपान है किन्तु वनस्पति के लिये वही प्राण है, उसमें जो कार्बनडायोक्साईड का तत्त्व होता है, वह वृक्षों के लिये जीवनोपयोगी होता है।

इन मन्त्रों की व्याख्या में पं० बुद्धदेव जी ने जहाँ दर्भ एवं जल का स्वास्थ्य संरक्षण विषयक अर्थ किया है, वहीं अधिराष्ट्रपरक उनकी व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रमाणसङ्गत है। मित्र राजसभा में राष्ट्रोपयोगी नियम बनाने वाला राजपुरुष तथा वरुण का अर्थ पुलिस विभाग का अध्यक्ष राजपुरुष किया है, क्योंकि **मित्रावरुणौ वस्त्रापि वासये** (ऋक्. १.१५१.१) मन्त्र में मित्रावरुण के वस्त्र पहिनना, मन्त्रदान, व्रतरक्षण, बुद्धिमत्व, दूतनियोजन मार्गनिर्देश, कथाताड़न आदि गुण कहे गये हैं, जो किसी वायुविशेष के गुण नहीं हो सकते। (अथर्ववेद भाष्य पृ.२७-३०)

इस प्रसङ्ग में अगले मन्त्रों के भी दर्भ, जल सम्बद्ध चिकित्साशास्त्रीय भाष्य तथा राष्ट्रपरक अर्थ अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक एवं मन्त्र के मर्मोद्घाटक हैं। (वही पृ. ३०-४१)

इसी प्रकार **यदान्त्रेषु एषा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बाभिति सर्वकम्** । (अथर्व. १.३.६) के भाष्य में मूत्र शब्द का (**मूत्र प्रस्रवणे**) योगिकार्थ प्रस्रवण अर्थ लेकर आँतड़ियों की भित्ति से प्रस्तुत हो रहे मल के प्रवाहरूप पुरीष (मल) अर्थ भी किया है। इसके प्रमाण के रूप में उन्होंने आधुनिक चिकित्साशास्त्रियों को उद्धृत किया है। (अथर्ववेद भाष्य, पृ.

४३) इस मन्त्र का राष्ट्रपरक अर्थ भी उनकी वेदविषयक सूझ को प्रख्यायित करता है।

प्रथम काण्ड के चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ सूक्त के देवता आपः हैं। इन मन्त्रों का इतनी सरल हृदय ग्राही व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है। यथा-

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मदुना पयः॥ (अथर्व. १.४.१)

इसका संस्कृत भाष्य का माधुर्य एवं गाम्भीर्य तो भाष्य में द्रष्टव्य है। (अथर्ववेद भाष्य, पृ. ४९-५०)। इसके बोध में पण्डित जी लिखते हैं, जाति शब्द का वेद में एक सामान्य अर्थ बहिन होता है तथा स्त्री मात्र के लिये भी प्रयुक्त होता है, जल माता जैसी हितकारी है, आप का अर्थ परमात्मा भी होता है अतः इसका परमात्मा परक अर्थ भी हो सकता है।

इसी प्रकार अथर्व० १.१२.४ का भाष्य उनके आधुनिक चिकित्साशास्त्रीय आयुर्वैदिक निगूढ ज्ञान को दर्शाता है। उन्होंने अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये encyclopedia Britannica Anaemia आदि ग्रन्थों को उद्धृत किया है।[२] इस अति लघुकाय भाष्य में से भी उनका विस्तृत चिकित्साशास्त्रीय ज्ञान द्योतित होता है।

योगाभ्यासियों को विशेष प्रकार का मधुर शब्द भी सुनाई देता है, योगाभ्यास में जलाशयों के तीर पर बैठने से अधिक चित्त लगता है। इसकी सूचना भी आपः शब्द से मिलती है।

आपः का अर्थ प्रजा भी होता है। किसी राष्ट्र की प्रजाओं को नदी की तरह प्रशान्त मधुर होकर अपने नियम मार्ग पर चलना चाहिए, ऐसा

---

[२] गुरुकुल प्रभात आश्रम अध्ययन काल में पुस्तकालय में काम करते हुए इन ग्रन्थों को पलटते हुए सोचता था इन्हें कौन पढ़ता होगा, यह प्रश्न वार-वार उठता था; पण्डित जी के भाष्य का आलोडन करते समय उन प्रश्न का उत्तर मिल पाया।

राष्ट्रपरक अर्थ निकलेगा। (वही, पृ.५०-५१) इसी प्रसङ्ग में आगे आपः के प्रसङ्ग में हविः का अर्थ नहर, जलयन्त्र बनाना आदि व्यापार, जिनकी सहायता से पानी बुलाये जाते हैं- अर्थ उनकी ऊहाशक्ति का परिचायक है।

आपो हि ष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ (अथर्व. १.५.१) आदि मन्त्रों से पवित्रता का मार्जन करते हैं। आचार्य सायण ने विभिन्न शान्ति मार्जन आदि कर्म में इसका विनियोग किया है। पण्डित जी ने इनकी व्याख्या में आपः जैसे दिव्यगुणयुक्त स्त्रीपरक अर्थ की प्रधानता बतायी है तथा जल अर्थ को गौण दिखाया है। इसके लिये तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- मन्त्रस्थ - 'ष्ठा' एवं 'दधातन' आदि मध्यमपुरुष की क्रियाओं का प्रयोग चेतन में ही अधिक सुन्दर रीति से घट सकता है। इसके साथ ही दधातन क्रिया का प्रयोग भी स्त्रियों में ही अधिक सुन्दरता से घट सकता है। (वही, पृ. ५६)

यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि ब्रह्माण्ड जो आधिदैव तथा अध्यात्म यज्ञ प्रवर्त्तित हो रहे हैं, उन्हीं का साम्य प्रदर्शित करने के लिये या उनके रहस्यों को स्पष्ट करने के लिये अग्निहोत्रादि यज्ञों की कल्पना कर उनमें तत्-तत् मन्त्रों का विनियोग किया गया है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं - 'जितने भी अग्न्याधान से लेकर सहस्र संवत्सर साध्य श्रौतयज्ञ हैं, वे इस ब्रह्माण्ड में पृथिवी की रचना से लेकर प्रलयपर्यन्त दैव व आसुर यज्ञ हो रहे हैं, उनका प्रत्यक्ष बोध कराने के लिये ऋषि-मुनियों द्वारा कल्पित किये गये हैं। वेद में साक्षात् उक्त यज्ञ आधिदैविक यज्ञ हैं, द्रव्ययज्ञों का साक्षात् विधान वेद में नहीं है । वेदोक्त आधिदैविक यज्ञों का ज्ञान करने के लिये, उनके अनुसार जिन द्रव्यात्मा यज्ञों की कल्पना ऋषि-मुनियों ने की, उनमें यथावत् साम्य होने से

आधिदैविक यज्ञों के विधायक मन्त्रों का ही द्रव्यमय यज्ञों में यथावत् विनियोग किया गया। (श्रौतयज्ञ का संक्षिप्त परिचय, पृ. १७)

इस प्रकार अथर्ववेद के आद्य बारह सूक्तों का पण्डित बुद्धदेव जी का वैदुष्यपूर्ण भाष्य अनूपम एवं विविधविद्याओं को प्रकाशित करने वाला है। दुर्विनियोगों से रहित जादू, टोना आदि अन्धविश्वासों का विध्वंसक, यौगिकार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थों से विविध रहस्यों का उद्घाटक है। भाष्य में सूक्तों की पूर्वापरसङ्गति अद्भुत है। विशिष्ट पदों के विशेषणों के क्या महत्त्व है? इनकी अत्यन्त सहज सरस व्याख्या अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। मन्त्रों की चिकित्साशास्त्रीय, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विविध वैज्ञानिक व्याख्या उनके अद्भुत पाण्डित्य को प्रदर्शित करती है। ऐसा प्रतीत होता है, समस्त वेद, ब्राह्मण तथा अन्यशास्त्र उनको हस्तामलकवद् उपस्थित थे। यह भाष्य वेदपथ पर चलने वाले जिज्ञासुओं, भाष्यकारों तथा अन्वेषकों के लिये प्रकाशस्तम्भ सदृश है।

अथर्ववेद में प्रतिपादित जल-चिकित्सा

डॉ. मोहिनी आर्या[१]

ओं शं नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शं नो इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥
ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है" अतः विश्व की बहुमूल्य धरोहर वेद में समस्त प्रकार की विद्यायें सुस्पष्टतया प्रतिपादित हैं। वेदों के माध्यम से ही आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा का ज्ञान भी सम्पूर्ण विश्व में प्रसृत हुआ। यह ज्ञान भारतीय परम्परा का भी एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। वेदों से प्रारम्भ होकर यह ज्ञान सुश्रुत, चरक, धन्वन्तरि, वाग्भट्ट जैसे आचार्यों की तपस्या से एक वटवृक्ष के रूप में संसार में उपलब्ध है और विश्व को अपने आलोक से प्रकाशित कर रहा है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा का उद्देश्य है मनुष्य पूर्ण आयु को प्राप्त हो तथा तेजस्वी होकर जीवित रहे। भारतीय चिकित्सा विज्ञान के लिए वेदों में अथर्ववेद प्रमुखतया मान्य है। गोपथब्राह्मण में कहा गया है **येऽथर्वाणः**

---

[१] **सहाचार्या, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

तद्भेषजम् अर्थात् जो अथर्वा है, वह भेषज है। महर्षि चरक ने भी अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद को माना है। अथर्ववेद पहला ग्रन्थ है जिसमें लगभग २१५ सूक्तों में शरीरविज्ञान समाहित है। इन्ही सूक्तों में विभिन्न प्रकार के रोगोपचार से सम्बन्धित मन्त्र प्राप्त होते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में सभी रोगों के उपचार का मूलस्रोत आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पाँच तत्वों को माना गया है अतः इन्हीं से जल-चिकित्सा, मिट्टी-चिकित्सा, वाष्प-चिकित्सा, सूर्य-चिकित्सा आदि चिकित्सापद्धतियां प्रचलित हुईं। मानवदेह भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन्ही पाँच तत्वों से मिलकर बना है। इन्हीं पञ्चमहाभूतों से ही इसका उपचार भी सम्भव है।

अथर्ववेद में चार प्रकार की चिकित्सा में आथर्वणी, आङ्गीरसी, दैवी, मनुष्यजा हैं। इनमें दैवी चिकित्सा में ही अग्नि, सूर्य, जल एवं वायु-चिकित्सा आदि चिकित्साएं सम्मलित हैं।

वेदों में दिव्य स्वभाव तथा देते रहने के कारण अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि को ही साक्षात् देव कहा गया है। निरुक्ताचार्य यास्क ने देव शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है-

देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा[२]।

उपर्युक्त पञ्चमहाभूतों में जल का सर्वोपरि स्थान है। भावप्रकाश निघण्टु में जीवन का संरक्षक होने के कारण इसका नाम जीवन और अमृत भी है[३]।

यजुर्वेद में जल को सर्वश्रेष्ठ औषध कहा गया है- **वरुणं भिषजं**

---

[२]निरुक्त–७/१५

[३]भावप्रकाश निघण्टु–११/१–२

पीतं स्वाहा वनस्पति प्रियं पाथो न भेषजम्[४]। अथर्ववेद में जल के द्वारा चिकित्सा का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। वैदिक निर्वचन ग्रन्थ निरुक्त में कहा गया है – **अमृतम् उदकानाम्** अर्थात् जल अमृत के समान है।

इसकी पुष्टि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से प्राप्त होती है– **अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्**[५] अर्थात् जल में औषधीय गुण विद्यमान हैं तथा जल श्रेष्ठ सुख प्रदान करने वाला अमृत है। जल को औषध बताते हुए अन्यत्र भी अथर्ववेद में अपां भेषज आदि सूक्तों में अनेक मंत्र प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में जल के द्वारा विभिन्न रोगों का नामोल्लेख करते हुए उसके उपचार के लिए प्रार्थना की गयी है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं -

आनुवांशिक रोगों का निवारण –

आनुवांशिक दोषों को दूर करने के लिए अथर्ववेद में मन्त्र प्राप्त होते हैं– **आपो विश्वस्य भेषजी तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्**[६]॥ अर्थात् समग्र विश्व की औषध के रूप में जल है। वह हमें (क्षेत्रियात्) आनुवांशिक रोगों (क्षय, कुष्ठ आदि क्षेत्रिय) से मुक्त करता है।

दीर्घायु प्राप्ति के लिए –

दीर्घायु प्राप्ति के लिए जल का विशेष महत्त्व है। अतः अथर्ववेद के आपः सूक्त में भी जल देवता से दीर्घायु प्राप्ति की कामना की गयी है– **आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वेऽमम। ज्योक् च सूर्यं दृशे**[७]॥

अन्य सूक्तों में भी आरोग्यवर्धक जीवन के लिए जल देवता से

---

[४]यजुर्वेद–२१/४०

[५]ऋग्वेद–१/२३/१९, अथर्ववेद–१/४/४

[६]अथर्ववेद–३/७/५

[७]ऋग्वेद–१/२३/२१, अथर्ववेद–१/६/२८

बार–बार प्रार्थना की गयी है।

सद्योव्रण चिकित्सा–

किसी घाव के तत्काल निवारण के लिए अथर्ववेद में मन्त्र प्राप्त होते हैं–

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोपसिञ्चत।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे[८]॥

अर्थात् जल से (गोमूत्रफेन मिश्रित) व्रण को अच्छी तरह धोओ तथा उसी जल से व्रण के समीपस्थ भाग का भी प्रक्षालन करें। यह गोमूत्र मिश्रित जल व्रण की पीड़ा या व्रणनिवृत्ति की उग्र (तुरन्त शान्त करने वाली) औषध है।

नेत्र रोग एवं पैर दर्द के लिए–

हम सब जानते हैं कि ठण्डा जल नेत्रों के लिए कितना लाभदायक है। ठण्डे जल के छीटों से आँखों को तुरन्त राहत मिलती है। इसका वर्णन अथर्ववेद के इस मन्त्र में स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है–

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्।
आषस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः[९]॥

इस मन्त्र में जलरूप वैद्य से नेत्रजनित रोगों के निवारण हेतु एवं साथ ही पार्ष्णि अर्थात् एड़ियों और पैरों की वेदना को दूर करने के लिए प्रार्थना की गयी है। इसका अनुभव हम सब प्रत्यक्ष करते हैं।

हृदयजन्य रोगों के निवारण हेतु–

हृदयजन्य रोगों के निदान हेतु जल अत्यन्त उपयोगी है। हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति यदि घबरा जाये या बेहोश हो जाये अथवा हृदयाघात

---

[८]अथर्ववेद–६/५७/२

[९]अथर्ववेद–६/२४/२

जैसी स्थिति में हो तो सबसे पहले ठण्डे जल के द्वारा ही उसका उपचार किया जाता है। अतः वेद में प्रार्थना की गयी है कि यह पवित्र जल हमें हृदयजन्य रोगों से दूर रखे–

हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समः संगमः।
आपो ह मह्यं तद्देवीर्ददन् हृद्द्योत भेषजम्[१०] **॥**

अर्थात् हिमाच्छादित पर्वतों की जलधारायें हमारे हृदय के कष्ट को शान्ति प्रदान करने वाली औषधियाँ प्रदान करें।

भारतीय संस्कृति में गङ्गा को माता की संज्ञा दी गयी है। जिस प्रकार माता सन्तान को सब प्रकार की अशुचिता से बचाती है और उसे समस्त कष्टों से मुक्त करती है, उसी प्रकार विभिन्न प्रकार की औषधियों के सम्पर्क से पवित्र होता हुआ यह हिमालय से प्रवाहित और ऊँचाई से गिरता हुआ, वायु के तत्त्व को भी ग्रहण करता हुआ जल **औषध** है। ऐसा जल समस्त प्रकार के रोगों को दूर कर देता है। जिनमें से मस्तिष्क तथा हृदयसम्बन्धी रोग प्रमुख हैं। गङ्गाजल को इसीलिए अमृत कहा गया है। यह कभी भी दूषित नहीं होता है।

इसकी वैज्ञानिकता को ध्यान में रखते हुए ही अनेक प्रकार के पूजन, अर्चन आदि गङ्गा के तट पर करने का विधान है तथा कई प्रकार की विधियों में गङ्गाजल के स्पर्श और छिड़काव को महत्वपूर्ण माना गया है। आज भी गति, स्फूर्ति तथा शक्ति के लिए नदियों में स्नान करना तथा तैरना सर्वोत्तम माना गया है।

दुःस्वप्नप्रनाशक–

वेद में प्रार्थना की गयी है - **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु** अर्थात् मेरा मन शुभ सङ्कल्पों से युक्त हो, अतः मन को स्वस्थ रखना बहुत

[१०] अथर्ववेद–६/४/१

आवश्यक है। मन दूषित होता है, बुरे विचारों से और बुरे विचार ही कुःस्वप्न कहलाते हैं। इन कुःस्वप्नों को जल चिकित्सा के माध्यम से दूर किया जा सकता है। अथर्ववेद में जल से दुःस्वप्ननाशन से सम्बन्धित अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं।

प्रास्मदेनो वहन्तु प्रदुष्वप्न्यं वहन्तु[११]।

अर्थात् यह जल पापों और पाप भावनाओं नष्ट करे। यह जल समस्त दुःस्वप्नों का नाश करे। चिकित्सकों के अनुसार रात्रि को सोने से पहले ठण्डे जल का सेवन करना तथा शीतल जल से पादप्रक्षालन करना अच्छा माना जाता है।

इस प्रकार जल चिकित्सा के माध्यम से नेत्रजन्य रोग, उदरकृमि विष–निवारण, उदर सम्बन्धी रोग, कुःस्वप्न, स्वप्नदोष, चर्मरोग तथा प्रमेह आदि का उपचार प्राचीनकाल से ही किया जाता है।

जल में अग्नि तथा सोम दोनों के गुण विद्यमान हैं। अतः यह प्राणशक्ति तथा वर्चस्व दोनों को प्रदान करता है। जब कोई व्यक्ति घबरा जाता है अथवा उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शीतल जल के सेवन से उसका तेज, बल, स्फूर्ति और सामर्थ्य पुनः उत्पन्न हो जाता है। यही प्रार्थना इस मन्त्र में स्पष्ट होती है–

शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आधत्त देवीः[१२]।

कहा जाता है कि जल को उष्ण करके पीना चाहिए क्योंकि उसके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और यह वर्णन भी हमें वेदों में ही मिलता है। अथर्ववेद में लिखा है–

अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्[१३]॥

---

[११]अथर्ववेद–१६/१/११

[१२]अथर्ववेद–१६/१/१३

इस प्रकार जीवनरक्षक के रूप में सूर्य के सम्पर्क में आकर पवित्र हुआ वाष्पीकृत जल हमारे स्वास्थ्य के लिए सर्वोत्तम औषध है।

विभिन्न प्रकार के जलस्रोतों से प्राप्त जल को भिन्न–भिन्न रोगों के निवारण के लिए उपयोगी मानते हुए स्थान–स्थान पर इसका विशद वर्णन देखने को मिलता है। मन्त्रों में जलीय प्रदेशों से प्राप्त जल, वर्षा से, नदियों और समुद्र से, रेगिस्तान या रेतीले प्रदेशों से प्राप्त होने वाला जल शुद्ध होता है। अतः स्वास्थ्य के लिए लाभकारी है जैसा कि मन्त्र में उल्लेख प्राप्त होता है–

शं न आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः।
शिवा नः सन्तु वार्षिकी[१४] **॥**

चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट्ट जैसे आयुर्वेदाचार्यों ने अलग–अलग अध्यायों में क्रमशः जलवर्ग (२७) जलवर्ग (४७वाँ) तोयवर्ग (५वाँ) में जल के आरोग्यवर्धक गुणों का स्पष्टतया वर्णन किया है।

इस प्रकार जल विभिन्न प्रकार से हमारी रक्षा करता है। वर्तमान समय में इन प्राचीन वैदिक चिकित्सा पद्धतियों को आत्मसात् करने की अत्यन्त आवश्यकता है। अज्ञानता के कारण आज कितने ही रोगी अनेक प्रकार के ऐसे असाध्य रोगों से ग्रसित हैं, जो कि बहुत व्ययसाध्य और कष्टसाध्य हैं किन्तु जल-चिकित्सा के माध्यम से उनको बहुत आसानी से दूर किया जा सकता है।

---

[१३]अथर्ववेद–१/४/२

[१४]अथर्ववेद–६/२४/२, ऋग्वेद–१०/१३७/६

अथर्ववेद में वर्णित श्री अन्न 'यव' का वर्णन एवं वर्तमान समय में उसकी प्रासङ्गिकता

डा० रुचि गुप्ता[१]

वेद भारतीय संस्कृति के आधारभूत ग्रन्थ हैं। अपौरुषेय इन ग्रन्थों में ज्ञान की वह अजस्र धारा प्रवाहित होती रही है, जिसके बल पर हमारा देश प्राचीनकाल से ही विश्वगुरु की पदवी पर आरूढ़ रहा। विश्व की कोई संस्कृति, कोई सभ्यता, कोई साहित्य इन ग्रन्थों के समक्ष आने का साहस न कर सका। चारों वेद ज्ञान के महा रत्नाकार हैं। अथर्ववेद चारों वेदों में अन्यतम माना जाता है। अथर्ववेद में आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तथ्यों का विशद वर्णन है। उपनिषदों में विशुद्ध अध्यात्म की जो चर्चा प्राप्त होती है, उसका उद्गम अथर्ववेद को ही माना जाता है। अथर्ववेद में जहाँ एक ओर दर्शन, अध्यात्म का वर्णन है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र की अवधारणा, राजा, राजनीति, प्रजा के अधिकार एवं कर्तव्य, विविध प्रकार की कृषि, व्यापार आदि असंख्य विषयों का भी विशद वर्णन मिलता है।[२]

---

[१] **सहाचार्या, संस्कृत विभाग, दि० जैन कालिज, बड़ौत (बागपत) उ०प्र०**

[२] 'अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन'- लेखक डा० कपिल देव द्विवेदी

अथर्ववेद का सामाजिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर तत्कालीन समय में अन्नपान क्या था, यह ज्ञात होता है। अथर्ववेद में अनेक प्रकार के अन्नों का उल्लेख मिलता हैं यथा माष[३], व्रीहि, यव अर्थात् जौ एवं तिल[४] आदि।

इन समस्त अन्नों में भी यव अर्थात् जौ का अथर्ववेद में विशेष रूप से अनेक बार उल्लेख है, जौ को भूख दूर करने का साधन कहा गया है।[५] अथर्ववेद के बीसवें काण्ड में इन्द्र से प्रार्थना करते हुए अश्व तथा गौ के साथ-साथ 'यव' को भी धन के रूप में माँगा गया है।[६]

अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड में जौ की उत्तम खेती का वर्णन है। वहाँ पर यवों को 'देव' कहकर सम्बोधित किया गया है तथा प्रार्थना की गयी है कि आप उगकर ऊँचे हों। अनेक प्रकार से बढ़ें। आकाश से से उत्पलात्मक वज्र आपको नष्ट न करें।[७] यव के पास बैठने से भी व्यक्ति क्षयरोग रहित होता है तथा घर लाने वाला तथा उपयोग करने वाला व्यक्ति अक्षय सौभाग्य से युक्त होता है।[८]

---

[३] व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। अथर्ववेद ६-१४०-०२

[४] यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या। अ. ०२.०८.०३

[५] (क) यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे। अ. ०७.५०.०७

(ख) यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्। अ. २०.१७.१०

[६] गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥ अ. २०-१७.१०

[७] उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव।

मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत्। अ. ०६-१४२.०१

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र...। अ. ०६-१४२.०२

[८] अक्षितास्त उपसोऽक्षिताः सन्तु राशयः।

पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः॥ अ. ०६-१४२.०३

अथर्ववेद में यव से बने अनेक व्यञ्जनों का भी उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद के बीसवें काण्ड के चौबीसवें सूक्त में ऋषि, इन्द्र से जौ का सेवन करने की प्रार्थना करता है।[९]

अथर्ववेद में 'यव' को दिव्य औषधि बताया गया है। इससे ज्ञात होता है कि 'यव' मात्र उदरपूर्ति हेतु कोई साधारण वस्तु नहीं थी, अपितु उसके औषधीय गुणों से भी हमारे प्राचीन ऋषि मुनि नितान्त परिचित थे। अथर्ववेद के अष्टम काण्ड में 'यव' की गणना अमर औषधियों के अन्तर्गत की गयी है तथा उसे द्युलोक की सन्तान बताया गया है।[१०] अथर्ववेद के अष्टम काण्ड के द्वितीय सूक्त के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अन्नप्राशन संस्कार के समय बालक को इनका सेवन कराया जाता था तथा बालक को इनके सेवन से रोग मुक्त तथा कल्याण एवं बल से युक्त रहने की कामना की जाती थी।[११] अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड के एक सूक्त में श्रेष्ठ दाँतों के लिये भी 'यव' लाभकारी बताया गया है। इसके सेवन से दाँत कष्ट नहीं देते।[१२]

इस प्रकार अथर्ववेद में 'यव' का बहुविध वर्णन मिलता है, यह स्पष्ट है। अब प्रश्न उठता है कि वर्तमान समय में इसकी प्रासङ्गिकता क्या है?

अत्यन्त हर्ष एवं गौरव का विषय है कि हमारे देश के माननीय प्रधानमन्त्री जी के सार्थक प्रयासों से संयुक्त राष्ट्र महासभा ने वर्ष २०२३

---

[९] इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब।

आगत्या वृषभिः सुतम्। अ. २०-२४-०७

[१०] व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ। अ. ०८-०७-२०

[११] शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ। अ. ०८-०२-१८

[१२] वही, अ. ०६-१४०-०२

को मिलेट अर्थात् ''मोटा अनाज वर्ष'' घोषित किया है।[१३] मोटे अनाजों में बाजरा, रागी, साँवा, कोदो, लाल धान, जौ आदि आते हैं। यव सहित, ये सभी मोटे अन्न बेहद कम लागत, देखभाल एवं जल से ही तैयार हो जाते हैं तथा मिट्टी की उपजाऊ क्षमता भी रक्षित तथा संवर्धित होती है।[१४] ये हमारे शरीर के लिये अत्यन्त लाभप्रद हैं तथा विभिन्न रोगों से भी बचाते हैं। हमारे देश में मोटे अनाज का वैश्विक क्षेत्र में उत्पादन काफी अधिक है।[१५] इसे और अधिक बढ़ाने, भारत की आर्थिक स्थिति को मजबूत करने में मोटे अन्न की खेती एवं इसके निर्यात से होने वाले बहुविध लाभों को देखते हुए मार्च २०२३ में राजधानी देहली में सौ से अधिक देशों के कृषि मन्त्रियों, मोटे अनाज के शोधार्थियों एवं वैज्ञानिकों, विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों ने एक वैश्विक सङ्गोष्ठी में भाग लिया जिसका उद्घाटन माननीय प्रधानमन्त्री जी ने किया।[१६] हमारा देश मोटे अनाज का वैश्विक केन्द्र बनने की राह पर तेजी से अग्रसर है।[१७]

'यव' एवं अन्य मोटे अनाजों को श्री अन्न का नाम दिया गया है। इसकी पृष्ठभूमि में भी हमारे वेद ही हैं। वेदों में अन्न को मात्र एक उदरपूर्ति कारक पदार्थ ही नहीं समझा गया है वरन् उसका अत्यधिक आदर एवं महत्त्व पदे-पदे प्रदर्शित किया गया है। अथर्ववेद में विराट् ओदन का वर्णन किया गया है जिसमें समस्त संसार को अन्न बताते हुए

---

[१३] दैनिक जागरण, १९ मार्च २०२३

[१४] वही

[१५] दैनिक जागरण, १८ मार्च २०२३

[१६] वही

[१७] इस विषय पर विस्तृत लेख दिनांक ०६ अगस्त २०२३ को दैनिक जागरण समाचार पत्र के ''झंकार'' स्तम्भ के अन्तर्गत पढ़ा जा सकता है। मोटे अनाज पञ्च सितारा होटल, रेस्टोरेंट, क्लाउड से लेकर स्ट्रीट फूड में प्रमुखता से शामिल हो चुके हैं।

उसके समुचित उपयोग का विधान बताया गया है। इस विराट् अन्न का शिर ही बृहस्पति है, मुख ही ब्रह्म है, द्युलोक तथा पृथिवी लोक कान हैं, सूर्य तथा चन्द्रमा नेत्र हैं।[१८] यह अन्न ही स्वर्गलोक है। अन्न से ही प्रजापति ने ३३ लोकों का निर्माण किया है।[१९] यहाँ साङ्केतिक रूप में समझाया गया है कि चूँकि अन्न पर ही हमारा जीवन आधारित है, अतः यह समस्त लोक ही अन्न है। सृष्टि का सञ्चालक अन्न ही है। अथर्ववेद के एकादश सूक्त में एक प्रश्न उठाया गया है, जिसमें पूछा जाता है कि तूने अन्न को खाया या अन्न ने तुझे खाया। इसके उत्तर में कहा गया है कि न मैंने अन्न को खाया है न अन्न ने मुझे। इसका आशय यह है कि यदि हम अन्न का समुचित उपयोग न करते हुए उसे व्यर्थ भी करते हैं तब यह हमारे द्वारा अन्न को खाना है तथा यदि हम उसे अत्यधिक मात्रा में खाकर बीमार पड़ जाते हैं, तब अन्न हमें खा लेता है। अतः अन्न का उपयोग समुचित मात्रा में करते हुए उसे पोषित-संवर्धित करने का प्रयास करना चाहिये। अन्न का यही समुचित पोषण एवं संवर्धन हमारी श्री अर्थात् समृद्धि बढ़ाने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा। अन्न के प्रति यही अत्यधिक आदर एवं संस्कार हमारे देश की माटी के कण-कण में विराजमान है। कदाचित् यही कारण है कि कर्नाटक जो हमारे देश में सर्वाधिक मोटे अनाजों का उत्पादन करने वाला राज्य है, वहाँ उसे 'सिरी' धान्य कहा जाता है। कर्नाटक के लोगों की भावना का सम्मान करते हुए ही मोटे अनाजों को पुनः ''श्री अन्न'' के नाम से पुकारा जाने लगा है।

---

[१८] तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्।

द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्त ऋषयः प्राणापानाः॥ अ. ११-०३-०१-०२

[१९] एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः।

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत॥ अ. ११-०३-५२/५३

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदों में श्री अन्न ''यव'' का बहुविध वर्णन है तथा वर्तमान समय में भी ये अन्न श्री-समृद्धि का द्वार बन रहे हैं। यह गम्भीरता से विचार करने योग्य तथ्य है कि अथर्ववेद में वर्णित जब एक वस्तु, सिद्धान्त का अनुसरण करके हम इतनी अधिक भौतिक, आर्थिक, शारीरिक उन्नति कर सकते हैं तब यदि हम ज्ञान के अथाह समुद्र अथर्ववेद में वर्णित अन्य तथ्यों, सिद्धान्तों को आत्मसात् कर उनका अनुसरण करें तो भारत पुनः अपने प्राचीन गौरवशाली पद को प्राप्त कर सकता है।

अथर्ववेद में मनोविज्ञान

प्रो० शुचि अग्रवाल[1]

अथर्ववेद को वैदिक वाङ्मय का शिरोभूषण कहा जा सकता है। यद्यपि मन्त्र संख्या एवं उपयोगिता की दृष्टि से ऋग्वेद का स्थान प्रथम है तथापि सांस्कृतिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि से अथर्ववेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सांस्कृतिक दृष्टि से अथर्ववेद रत्नाकर सम है। सायण इस वेद का महत्त्व कुछ इस प्रकार बताते हैं कि अन्य तीन वेद स्वर्ग प्राप्ति आदि पारलौकिक फल देने वाले है, किन्तु अथर्ववेद लौकिक और परलौकिक दोनों प्रकार का फल देने वाला है।[2] इसमें लौकिक सुख, शान्ति, अभ्युदय, कष्ट-निवारण, रोगनाशन, अभिचार-निवारण, लोक-सङ्ग्रह आदि के लिए विविध अनुष्ठान प्राप्त होते हैं।

इसी के साथ मानवमात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस के साधक अनेक कर्म और उपायों का उल्लेख करने के कारण ही अथर्ववेद संहिता वैदिक आर्य के सामान्य जीवन का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करती है। मानवीय व्यवहार की चर्चा के बिना जीवन की समग्रता का प्रतिपादन नहीं किया

---

[1] **संस्कृत-विभाग, सनातन धर्म महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)**

[2] व्याख्याय वेदत्रितयम् आमुष्मिकफलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति। - अथर्ववेदभाष्य, उपोद्घात श्लोक १०

जा सकता, अतः अथर्ववेद में यत्र-तत्र मन्त्रों में मानवीय मनोभाव एवं मानव स्वभाव के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार एवं वर्णन प्राप्त होते हैं।

अथर्ववेद संहिता का पञ्चमांश गहन प्रौढ़ आध्यात्मिक और दार्शनिक मन्त्रों से भरा हुआ है, जिनमें आत्मा का ज्ञान और बल प्राप्त करने के मार्ग प्राप्त होते हैं। ब्लूमफील्ड कहते हैं कि अथर्ववेद में आध्यात्मिक सूक्तों का सबसे बड़ा संग्रह है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ब्रह्म की व्याख्या करता है। इन सूक्तों के कारण ही इस वेद को ब्रह्मवेद नाम से भी जाना जाता है।[३] इससे ज्ञात होता है कि अथर्ववैदिक ऋषि उत्कृष्ट अध्यात्म-चिन्तक थे। अध्यात्म का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है और आत्मा का मन से। आत्म-ज्ञान, मन या चित्त के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है और मन के ज्ञान को ही मनोविज्ञान कहते हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न विषयों यथा ब्रह्म, आत्मा, माया, काल, स्कम्भ, काम, ब्रह्मचारी, प्रजापति आदि अनेकानेक आध्यात्मिक विषयों का प्रतिपादन अथर्ववैदिक ऋषियों के द्वारा किया गया है किन्तु मन विषय पर स्वतन्त्र चिन्तन उपलब्ध नहीं होता है तथापि वे निश्चित रूप से मन के स्वरूप व शक्तियों से पूर्णतः परिचित थे क्योंकि उन्होंने मन से सम्बद्ध विचारों की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्वाभाविक रूप से की है। सातवलेकर महोदय कहते हैं कि अथर्ववेद द्वारा जो कर्म किये जाते हैं, वे मन की एकाग्रता से उत्पन्न सामर्थ्य से ही किये जाते हैं।[४] ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कहा गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद द्वारा वाणी पर संस्कार होकर व्यक्ति का एक भाग सुसंस्कृत होता है किन्तु अथर्ववेद द्वारा मन पर

[३] शांख्याय्नगृह्यसूत्र १.१६.३, वैतान सूत्र १.१, गोपथ ब्राह्मण १.२.१६

[४] अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, भाग १, पृष्ठ ४

संस्कार होकर दूसरा भाग सुसंस्कृत होता है।[५] अथर्ववेदीय मन्त्रों का अनुशीलन करने पर उसमें उपलब्ध मन और उससे सम्बद्ध मानवीय शक्ति, मनोभाव एवं संवेग, मानव स्वभाव तथा मानसिक चिकित्सा से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ तथा विचार प्राप्त होते हैं। यथा मन, चेतन, आकृति, चित्ति (स्मृति), मति, श्रुति, दर्शन शक्ति, प्राण, अपान, व्यान तथा देवी सरस्वती आदि।[६]

इन शक्तियों का वर्णन करने वाले प्रथम मन्त्र में अन्तःकरण और उसकी शक्तियों और ज्ञानेन्द्रियों का उल्लेख है, द्वितीय मन्त्र में प्राणों और विद्याओं का। इसी प्रकार अन्यत्र मन्त्रों में भी मन, प्राण, मनीषा, इन्द्रिय, आयु, बल, कर्म, वाणी आदि की सम्पन्नता की प्रार्थना मनीषियों के द्वारा की गई है।[७] क्योंकि सम्भवतः इन तत्त्वों में उनकी शक्तियों की सत्ता मानवीय व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए आवश्यक है। अतः अथर्ववेद में उपलब्ध मनोविज्ञान को समझने के लिए इन तत्त्वों और उनकी शक्तियों पर विचार करना आवश्यक है।

---

[५] मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति। - गोपथ ब्राह्मण ३.२
तद्वाचा त्रय्या विद्ययैक पक्षं संस्कुरुते।
मनसैव ब्रह्मा संस्करोति। ऐतरेय ब्राह्मण ५.३३

[६] मनसे चेतसे धिय आकूतय उतचित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेय हविषा वयम्॥
अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेय हविषा वयम्॥ ६.४१.१-२, अथर्ववेद

[७] बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ।
सूर्याच्चक्षुरन्तारिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम्।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा। ५.१०.८, अथर्ववेद

प्राण-

अथर्ववेद के अनुसार शरीर का सारतत्त्व प्राण है। इसका बहुशः वर्णन इस वेद में प्राप्त होता है। प्राण-सूक्त (११.४) में प्राण शक्ति को सर्वोच्च शक्ति बताते हुए उसका समीकरण महान् शक्तियों से किया गया है। प्राण विराट् हैं, प्रेरक हैं, सब उसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य चन्द्रमा और प्रजापति है।[८] प्राण ही वायु और मातरिश्वन् है।[९] प्राण ही जीवन शक्ति है इसलिए देवरूप समस्त इन्द्रियाँ इसी के वश में रहती हैं।[१०] वस्तुतः प्राण के रहते ही शरीर की स्थिति है। इसलिए सूक्त के अन्त में प्रार्थना है- हे प्राण! मेरे से पृथक् न हो, दूर न हो। पानी के गर्भ के समान हे प्राण! जीवन के लिए तुझे अपने अन्दर बाँधता हूँ।[११] ऋषि एक सम्पूर्ण सूक्त में प्राणों से भयभीत न होने के लिए कहते हैं।[१२] अथर्ववेद में प्राण का मन से सम्बन्ध भी प्रतिपादित किया गया है। इस रुग्ण व्यक्ति के निष्प्राण शरीर में मन्त्र के प्रभाव से सर्वप्रथम प्राण आए, पुनः मन आए, उसके पश्चात् चक्षु आदि इन्द्रियाँ और शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग में बल आया।[१३] अतः प्राण शक्ति मन शक्ति मन से श्रेष्ठ है।

जिस प्रकार उपनिषदों में पञ्चकोश या पञ्चप्राणों का वर्णन प्राप्त होता है यथा तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय

---

[८] प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुप्रजापतिम्॥ ११.४.१

[९] प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्चते। ११.४.१५

[१०] प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते। ११.४.११

[११] प्राण मा मत् पर्यावृतो न मन्दयो भविष्यसि।
अपां गर्भामिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि॥ ११.४.२६

[१२] एवा मे प्राण मा बिभेः। २.१५.१

[१३] ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम्। ५.३०.१३

और आनन्दमय कोश (२.२-५) तथा मैत्रायणी उपनिषद् में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पाँच प्राण (२-६) उसी प्रकार अथर्ववेद के प्राण सूक्त में '**प्रिया तनुः**' (मन्त्र ९) इस मन्त्र द्वारा प्राणमय कोश का सङ्केत प्राप्त होता है।[१४] अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में प्राणों के प्रकार के सङ्केत भी प्राप्त होते हैं यथा प्राण और समान मुझे मृत्यु से बचाएँ। इसे न प्राण त्यागे और न ही अपान इत्यादि।[१५] अथर्ववेद में 'प्राण' अर्थ में 'असु' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।[१६] सायण और यास्क ने भी असु को प्राण नाम वाला बताया है। प्राण शरीर में क्षिप्त रहता है। अतः असन-क्रिया (अस) योग से उसका नाम 'असु' पड़ा है।[१७] प्राण का 'असु' पर्याय उसके जीवन शक्ति रूप का द्योतक है।

परवर्ती भारतीय अध्यात्म-शास्त्र का मूल अथर्ववेद-संहिता में वर्णित प्राण है।

आत्मा-

अथर्ववेद के अनुसार मानवीय व्यक्तित्व का केन्द्र तत्त्व 'आत्मा' है। ऋषि कहते हैं जिस प्रकार विराट् शरीर में अन्तरिक्ष व्याप्त है, उसी प्रकार मेरे शरीर के मध्य में आत्मा वास करता है। जीवात्मा कभी न मरने वाला अमर है।[१८] यही आत्मा सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ और यही मन में

---

[१४] अथर्ववेद का सुबोधभाष्य, सातवेलकर, भाग-४, काण्ड द्वितीय, पृ०. ३७

[१५] प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा। २.१६.१

मेमं प्राणो ह्यासीन्मो अपानः। २.२८.३

[१६] मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ८.२.२६

[१७] असुरिति प्राणनाम, अस्तः शरीरे भवति। निरुक्त ३.२

[१८] सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।

अस्तृतो नामाहमयमस्मि ५.९.७

प्रविष्ट हुआ है।[१९] अन्यत्र शरीररूपी कमल में बैठे हुए आत्मा को यक्ष के रूप में बताया गया है।[२०] स्पष्टतः आत्मा को इन्द्रिय प्राण और शरीर से पृथक् समझा गया है।[२१] अथर्ववेद संहिता के दार्शनिक सूक्तों में आत्मा के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया गया है।

इन्द्रिय-

अथर्ववेदीय मन्त्रों में शरीर को कभी सप्त-इन्द्रिय विवरों से युक्त[२२] और कभी नवद्वारों से सम्पन्न कहा गया है[२३], दूसरी और कभी आत्मा को दस इन्द्रियों से सम्पन्न बताया गया है।[२४] इन मन्त्रों में ज्ञानेन्द्रियों में चक्षु और श्रोत्र पर अधिक प्रकाश डाला गया है तथा कर्मेन्द्रियों में वाणी पर। अथर्ववेद संहिता में कुछ विशेष इन्द्रियों का सम्बन्ध बाह्य शक्तियों और देवों से भी स्थापित किया गया है यथा- चक्षु का सम्बन्ध द्युलोक और सूर्यदेव से है।[२५] इन्द्र की स्तुति में उनके बृहत् इन्द्रिय-बल का स्मरण इन्द्रियों की शक्ति की न्यूनाधिकता को व्यञ्जित करता है।[२६] देवताओं से सामान्य रूप में इन्द्रिय या उनके बल की कामना भी की गई है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण करने में मन के संयोग की आवश्यकता का सङ्केत भी यत्र-तत्र मन्त्रों में प्राप्त होता है यथा- वे

---

[१९] एको ह देवो मनसि प्रविष्ट प्रथमो जात १०.८.२८

[२०] पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः। १०.८.४३

[२१] अथर्ववेद ५.९.७

[२२] कः सप्त खानि वि तदर्दशीर्षाणि। १०.२.६

[२३] १०.८.४३

[२४] ५.१६.१-१०

[२५] द्विवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यामाधिपतये स्वाहा। ६.१०.३

[२६] तव त्यदिन्द्रियं बृहत् २०.१०६.१

मन और चक्षु से देख रहे थे।[२७] ये तो स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ विषय के ग्रहण और प्रकाशन का आवश्यक साधन मानी गई हैं।

बुद्धि-

मनुष्य की सामान्य क्षमता या ग्रहण शक्ति का नाम बुद्धि है। समझना, विचार करना, तर्क, स्मृति, ज्ञान इत्यादि बुद्धि के धर्म हैं। कर्मों और विचारों की निर्णायिका शक्ति बुद्धि है। अथर्ववेद संहिता में इसे 'धारणाशक्ति' होने से 'मेधा' कहा गया है। एक सम्पूर्ण सूक्त (६.१०८) में 'मेधा' का आह्वान है और लुप्तोत्तमा द्वारा सामर्थ्य का चित्रण किया गया है- हे मेधे! जिस प्रकार सर्वप्रेरक सूर्य की किरणें शीघ्र ही सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करती हैं, उसी प्रकार तुम भी सभी विषयों को व्याप्त करने वाली अपनी शक्तियों के साथ हमें सम्प्राप्त हो।[२८] व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए ब्रह्मचारी सूक्त में प्राण, मन आदि के साथ मेधा को भी प्रकट करने की प्रार्थना की गई है।[२९] यह मेधा ब्राह्मण, ऋषि, ऋभुगण और असुर सभी से सम्बद्ध है और उनके द्वारा अपना सर्वस्व मानी गई है।[३०] अनेक मन्त्रों में अशोभन और पापप्रवण बुद्धि के निराकरण की प्रार्थनाएँ की गई हैं। (२.६.५) भिन्न-भिन्न आचार्यों ने मेधा शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है यथा- सायण ने श्रुतधारण सामर्थ्यरूपिणी देवी (६.१०८.१) और आशुविद्या ग्रहण कुशला बुद्धि (११.५.२४) के रूप में की है। सातवलेकर महोदय इसे धारणा शक्ति

---

[२७] अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च। २.३४.३

[२८] त्वं नो मेधे प्रथमा गर्तेभि रश्वेभिरागमत।

एवं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञियाः। ६.१०८।

[२९] प्राणपानौ जनयन्नाद् व्याने वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधय। ११५.२४

[३०] ६.१०८.२-३

वाली बुद्धि कहते हैं। (१२.१.५३) अथर्ववेद संहिता में बुद्धि के लिए व्यवहृत मनीषा (५.९.८), धी (६.४१.१) व धीति (९.१०.१७) इत्यादि नामों से इसके मनन, ध्यान और धारण के सामर्थ्य का बोध होता है।

शरीर-

अथर्ववैदिक ऋषियों ने ११.८ सूक्त में मानवीय शरीर की रचना और उसमें आत्मा के निवास एवं सम्पूर्ण देवताओं के स्थान आदि का रहस्यमय वर्णन किया है। इस सूक्त में विविध शारीरिक अङ्गों, चेष्टाओं, अवस्थाओं और शक्तियों की व्यापक समीक्षा की गई है- प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अभौतिक और भौतिक शक्तियाँ, व्यान, उदान, वाणी और मन, ये सब शरीर के साथ चलते हैं। आशीर्वाद, घोषणा, सम्मतियाँ, विशेष अनुशासन, चित्त और सब सङ्कल्प शरीर में प्रविष्ट हुए। रहना और बैठना, त्वरा और कृपणता, गुह्य, शुक्र, स्थूल, जलरूप तथा वीभत्स भाव ये सब शरीर के साथ रहे हैं।[३१] अतः शरीर ही समस्त कर्म, चेष्टा और भावों का आधार है। अथर्ववेद के अनुसार मानवीय शरीर की अद्भुत रचना (१०.२) देवों का विलक्षण कार्य है। मानव के अतिरिक्त पशु के शरीर-रचना विज्ञान से भी अथर्ववेद भली प्रकार परिचित है (९.७, १०.९)। भौतिक शरीर के माहात्म्य को स्वीकार करने के कारण ही ऋषियों ने शारीरिक अङ्गों की पुष्टता, सम्पूर्ण शरीर के स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य के लिए अनेक प्रार्थनाएँ की हैं।[३२]

मनस्-

मानवीय मन का सम्बन्ध शरीर और आत्मा दोनों से है क्योंकि वह अधिष्ठित तो शरीर में है किन्तु वह नियन्त्रित आत्मा से होता है। अथर्ववेद

[३१] ११.८.२६-२८ अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, सातवलेकर, भाग-४, पृ०. १०४

[३२] अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण, एमब्लूमफील्ड, अनु. डा. सूर्यकान्त, १९६४, पृ०. १३०

में यद्यपि पृथक् रूप से मन का विवेचन नहीं किया गया है किन्तु अनेकशः इसकी चर्चा की गई है।

'मनस्' का स्थान दश इन्द्रियों से ऊपर है। इसे एकादश (५.१६.११) अथवा दश इन्द्रियों से पृथक् एक (५.१५.१) कहा गया है। कहीं पर पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का उल्लेख करते हुए 'मन' को षष्ठ स्थान दिया गया है।[३३] ऋषि कहते हैं- मैं स्वयं नही जानता कि मैं किस प्रकार का हूँ। शरीर में अन्तर्हित और उन्हीं से बँधा हुआ मैं अपने मन के द्वारा सर्वजगत् का व्यवहार करता हूँ।[३४]

'मनस्' मननशक्ति के अतिरिक्त सङ्कल्प इत्यादि का भी वाचक है।[३५] सायणाचार्य के मत में यह सङ्कल्प विकल्प हेतुभूत अन्तःकरण वृत्ति का नाम है।[३६] चित्त प्रायःमनस् या अन्तःकरण के अर्थ में प्रयुक्त है किन्तु मनस् के साथ व्यवहृत होने पर इस शब्द से चिन्तन शक्ति, सञ्ज्ञान, विचार, ज्ञान इत्यादि की प्रतीति ही प्रायः भाष्यकारों द्वारा की गई है। इसी प्रकार 'हृदय' भी सामान्यतः मनस् अर्थ में है, किन्तु मन या चित्त के साथ प्रयोग में आने पर इसका विशेष अर्थ सायण द्वारा क्रमशः हृदयोपलक्षित अन्तःकरण और हृदयपुण्डरीक किया गया है।[३७] अन्यत्र हृदय को चेतना भी कहा गया है।[३८]

मन में प्रविष्ट सङ्कल्प को अथर्ववेद में 'आकूति' नाम दिया गया

---

[३३] इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा सशिंतानि। १९.९.५

[३४] न व जानाह्मि यदिवेद मस्मि निष्यः संनद्धो मनसा चरामि। ९.१०.१५

[३५] मनसा मनः सङ्कल्प मात्रेण। अथर्ववेद, सायण भाष्य ६.९३.२

[३६] ३.२०.९

[३७] ३.२०९, ३.२५.६

[३८] चेतो हृदयम् ९.७.११

है।[३९] सुभगा आकूति देवी चित्त की माता बताई गई है।[४०] वस्तुतः आकूति 'सङ्कल्प, इच्छा या कामना का नाम प्रतीत होता है, जो मन में रहती है। एक मन्त्र में इसे हृदय में स्थित कहा गया है।[४१]

मनुष्य मन द्वारा सङ्कल्प करता है।[४२] प्रीति की दृढ़ता के लिए मन की स्थिरता अपेक्षित है- एक मन्त्र में गौंवे घर में ही रहें, भाग न जाएँ, इसके लिये सब देवों से उनके मनों को स्थिर करने की प्रार्थना की गई है।[४३] सामान्य जन के मन में मोहित, आसक्त या आकर्षित होने की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। मानवीय मन कर्मों का आधार है। मन की विमुखता कर्मों की निष्फलता का हेतु है। देवता से प्रार्थना है कि शत्रुओं के व्यवस्थित चित्त को अव्यवस्थित कर दो- '**बिष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्**।[४४] शत्रुसेना का चित्त विचलित हो जाए,[४५] जिससे वे पराजित हो सकें। अतः शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के कर्मों के सम्पादन में मन की अनुकूलता अपेक्षित है। मानसिक शक्तियों के विकास अथवा मन की दृढ़ता के उद्देश्य से बृहत् (महान् ब्रह्म) से मन की याचना की गई है।[४६]

मन का सम्बन्ध बाह्य शारीरिक चेष्टाओं और वाणी से भी है। वाणी में मन की शक्ति रहनी चाहिए, इसीलिए बृहस्पति में 'आकूति वाक्' की

---

[३९] आकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा। ६.७३.२

[४०] आकूति देवी सुभगां पुरो धन्ते चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु ११९.४.२

[४१] चित्ताकूतं च यद्हृदि। ११.९.१

[४२] मनसा संकल्पयति तद् देवां अपि गच्छति। १२.४.३१

[४३] विश्वे देवा-क्रान्निह वो मनांसि। १४.१.३२

[४४] ३.१.४

[४५] विष्वक् पुर्नभुवा मनः। १.२७.२

[४६] बृहता मन उपहृये। ५.१०.८

कामना की गई है।[४७] देवताओं की सभी मानसिक शक्तियाँ पूर्ण विकसित होती हैं। इन्द्र शुभ और उत्तम मन से युक्त प्रथम देव हैं। इन्द्र अपने मन को दान के लिए प्रेरित करते हैं, इसी कारण उनका मन आराधनीय है।[४८] इसके विपरीत मानवीय मन सामान्यतः अपनी सम्पूर्ण शक्ति से सम्पन्न नहीं होता है। इसी सन्दर्भ में अथर्ववेदीय मन्त्रों में अनेकशः शुभ मन, उत्तम मन, शुभ सङ्कल्प तथा मन के लिए अनेक प्रार्थनाएँ प्राप्त होती हैं।[४९]

मन मनुष्य की पाप में प्रवृत्ति का कारण भी है। अथर्ववेद में अशुभ-आचरण और पाप से बचने की तथा उनके नाश की अनेक प्रार्थनाएँ हैं। पाप से हृदय में वेदना उत्पन्न होती है, मानो इन्द्र ने हृदय में अग्नि सुलगा दी है।[५०] अथर्ववेद के एक मन्त्र में मन से पाप या पापी विचार को दूर करने की प्रार्थना है[५१] क्योंकि उससे मुक्त होने पर ही मानसिक कष्टों का निवारण सम्भव हो सकता है।

अथर्ववेद संहिता में परिवार, समाज एवं राष्ट्र में झगड़ों को शान्त करने के लिए तथा सबमें सौहार्द सम्भावना और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए सौमनस्य पर विशेष बल दिया गया है और इसके लिए मन्त्र, समिति, व्रत, मन, चित्त, आकूति, हृदय आदि की सभी में समानता प्रार्थनीय भी है और आवश्यक भी।[५२] यही भाव अथर्ववेदीय साम्मनस्य

---

[४७] बृहस्पतिर्भ आकूतिमाङ्गिरसः प्रति जानङ्गु वाचमेताम्। १९.४.४

[४८] एवा ते राध्यं मनः। २०.६०.१

[४९] ६.५३.३, १३.१.१०, १.१९, १४,२.६. आदि।

[५०] स तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्धे ५.१८.५

[५१] परोपऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शससि। ६.४५.१

[५२] ३.३०, ६.६४, ६.७३-७४, ६.१२३ इत्यादि।

सूक्तों में परिलक्षित होता है।[५३] सभी जनों में परस्पर समभाव के लिए हार्दिक एवं मानसिक स्तर की समानता सर्वप्रधान है। राष्ट्र की एकता के लिए राजा अपने मन, चित्त और हृदय के समान प्रजाओं के मन, चित्त और हृदय की आकाङ्क्षा व्यक्त करता है।[५४]

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में यत्र-तत्र माता-पिता आदि विशेष रूपों में मनुष्य के सामान्य मनोविज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। उदाहरण के रूप में माता का उत्पन्न शिशु को हृदय से लगाना, पुत्र को सुख प्रदान करना, प्रेमपूर्वक पुत्र का स्वागत करना आदि।[५५] पिता का हृदय पुत्रों के प्रति प्रेम और सहानुभूति से पूर्ण रहता है।[५६] पुत्र, पिता के समीप निःसङ्कोच और सहजभाव से जाता है।[५७] पत्नी, पति को देखकर सम्मिलन के लिए उत्सुक हो जाती है।[५८]

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि विशेष रूप में परस्पर व्यवहार करते हुए सभी व्यक्तियों की मन-स्थिति सामान्यतः एक-सी ही रहती है। मनःस्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों से बनती है और भाव स्वभाव को जन्म देते हैं। जब कोई भाव ज्यादा स्थिर रहने लगे, तब वह उसका स्वभाव बन जाता है। अथर्ववैदिक ऋषियों ने यत्र-तत्र विशेषणों

---

[५३] सहृदयं सामञ्जस्य भविद्वेष कृणोभि वः। ३.३०

[५४] अहं गृभ्णामि मनसा मनासि मम चित्रमनु चित्रेभिरेत्।
मम वशेषु हृदयानि वः - कृणोमि मम यातमनुवत्मनि एत्॥ २.८.६

[५५] जातं जात्री र्यथा ह०.श। २०.४८.२
मातेवास्मा् अदिते शर्म यच्द। २.२८.५
जनित्रीव प्रति हर्यासि मूनुम्। १२.३.२३

[५६] पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः। १२.३.१२

[५७] पुत्र इव पितरं गच्छ। ५.१४.१०

[५८] योषेन दृष्ट्वा पतिमृत्वियाय। १२.३.२९

के प्रयोग द्वारा देवताओं के स्वभाव विशेष को प्रतिपादित किया है।

व्यक्ति के स्वभाव का उसकी मनोवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है यथा कामुक पुरुष का मन कामिनी में आसक्त रहता है।[५९] अथर्ववेद के अनुसार विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों में विभिन्न गुण धर्म होते हैं। यद्यपि जड़ पदार्थ और अन्य योनियाँ अपना स्वभाव नहीं बदल सकती हैं किन्तु मनुष्य योनि के लोग प्रयासपूर्वक अपना स्वभाव बदल सकते हैं। इसी सन्दर्भ में मधुविद्या के उपदेश का औचित्य है, जिसमें सम्पूर्ण स्वभाव को उत्तम और मधुमय बनाने की अभिलाषा व्यक्त की गई है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अथर्ववेद में यत्र-तत्र मन्त्रों में मानवीय मनोभाव एवं संवेग और मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में विचार व्यक्त हुए हैं। इसके प्रसङ्गवश अनेक मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की चर्चा हुई है जिनका अर्थ जानकर हम सम्भवतः वर्तमान मनोविज्ञान या मानव स्वभाव का यथार्थ विश्लेषण करने में समर्थ हो सकते हैं।

---

[५९] यथापुसो वृषण्यत स्त्रियां विहृयते मनः। ६.७०.

वर्तमान युवापीढ़ी में व्याप्त मनोविकारों का वैदिक समाधान

(अथर्ववेद के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. विश्वेश वाग्मी[१]

सुखेन घोष (सहलेखक)[२]

किसी भी सभ्य समाज और उन्नत राष्ट्र का निर्माण वहाँ की युवा पीढ़ी के हाथों में होता है। युवाओं की सृजनात्मक शक्ति और सकारात्मक ऊर्जा ही राष्ट्र की समृद्धि और सामर्थ्य का सर्वोत्तम आधार मानी जाती है। किन्तु पाश्चात्य जीवन पद्धति एवं वैदेशिक शिक्षा-संस्कारों का आधुनिक प्रवाह आज के भारतीय युवा वर्ग को उसके अन्तःकरण में स्वाभाविक रूप से विद्यमान उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम जैसे युवोचित गुणों से कोसों दूर कर रहा है। सनातन जीवन मूल्यों से अनभिज्ञ और चारित्रिक दोषों में संलिप्त ऐसा युवा अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक विकारों से ग्रस्त हो राष्ट्र-निर्माण की अपनी

[१]**सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बिहार**

[२]**शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बिहार**

क्षमता का सदुपयोग करने में अक्षम दिखाई देता है। वस्तुतः युवाओं में व्याप्त मनोविकारों की यह समस्या किसी एक देश तक सीमित न होकर वर्तमान युग की सबसे बड़ी वैश्विक समस्याओं में से एक बन गई है।

तथाकथित विकास की भौतिकवादी प्रवृत्ति का सबसे बड़ा दुष्प्रभाव नवोदित पीढ़ी को ही आक्रान्त कर रहा है। धन और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधुनिक मापदण्ड, तेजी से बदलता सामाजिक और पारिवारिक परिवेश, माता-पिता की बदलती प्राथमिकताएँ (Shifted Priorities), माता-पिता में तलाक, सामाजिक कुरीतियाँ, पारिवारिक और नैतिक मूल्यों का ह्रास, अस्वस्थ जीवनशैली, बच्चों का शारीरिक, मानसिक और यौन शोषण, सोशल मीडिया का बढ़ता प्रभाव, नशीली दवाओं का दुरुपयोग, दिखावटी सफलता को प्राप्त करने की अन्तहीन दौड़, असमान अवसर, सामाजिक दुर्व्यवहार, उपेक्षा एवं नकारात्मक पर्यावरण बच्चों से लेकर किशोरों और युवाओं को अनेक मानसिक विकृतियों से व्याप्त कर रहा है। साथ ही परिवार की अपेक्षाओं के अनुरूप सफल न होने तथा लक्ष्य की प्राप्ति न होने के भय से उत्पन्न कुण्ठा एवं हीनभावना युवाओं के अन्तःकरण में एक निराशा तथा हतोत्साह की स्थिति निर्मित करती है, जो अवसाद के रूप में मानसिक बीमारियों का कारण बनती है।

विश्व मानसिक स्वास्थ्य रिपोर्ट (World Mental Health Report) २०२२ के अनुसार आज संसार भर में प्रायः ८ प्रतिशत बच्चे (उम्र ५-९) और १४ प्रतिशत किशोर (उम्र १०-१९) मानसिक विकारों से पीड़ित हैं। इस रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान युवा पीढ़ी में ध्यान की कमी/अतिसक्रियता विकार (Attention-deficit/ hyperactivity disorders), आचरण विकार (Conduct disorders) खाद्य-विकार

(Eating disorders), मनोविक्षिप्ति (Psychosis) अवसाद (Depression), चिन्ता (Anxiety), आत्महत्या एवं स्वयं को हानि पहुँचाना (Suicide and Self-harm) जैसे मनोविकार बढ़ते जा रहे हैं। कोविड-१९ के बाद तो इनमें २५% से भी ज्यादा की वृद्धि देखने को मिली है[३]। विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization-WHO) के अनुसार विश्व में प्रत्येक वर्ष प्रायः७ लाख लोग आत्महत्या करते हैं। १५-२९ वर्ष के युवाओं में तो यह मृत्यु का चौथा सबसे प्रमुख कारण बना हुआ है[४]।

वस्तुतः देखा जाए तो मानसिक दुःख भौतिक दुःखों से ज्यादा कष्टकारक होते हैं। आजकल चिकित्सकों के पास वास्तविक रोगों से पीड़ित रहने वाले युवाओं की अपेक्षा कल्पित रोगों से पीड़ित युवाओं की सङ्ख्या अधिक बढ़ती जा रही है। बहुत से वास्तविक रोगों का भी कारण मनोविकार ही होते हैं। मन से वह विकार हट जाने पर इस प्रकार के सभी रोग स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

वैदिक ऋषि इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे। वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों एवम् उपनिषदों में मन का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। मन सर्वशक्तिमान है और परमात्मा का स्वरूप है, अतः मन को ब्रह्म कहा जाता है-**मनो ब्रह्म**[५]। ब्रह्माण्ड की रचना मन के सामर्थ्य से हुई है, इसलिए मन को ब्रह्मा कहा गया है-**मनो ब्रह्मा**[६]। मन ही सृष्टिकर्ता

---

[३] World Mental Health Report २०२२, P.४४

[४] https://www.who.int/news-room/fact-sheets/detail/suicide

[५]गोपथब्राह्मण १.२.११

[६]वही

प्रजापति है- **मनो वै प्रजापतिः**[७]। मन की शक्ति अनन्त और अथाह है[८]। दिव्य शक्ति होने के कारण मन ही देव अर्थात् ईश्वर है- **मनो देव**[९]। सभी प्रकार की प्रेरणा-शक्ति और कल्पना-शक्ति का आधार मन ही है। मन प्राण-शक्ति का अधिपति है- **मनो वै प्राणानामधिपतिः**[१०], मन के आदेश से ही प्राण कार्य करता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार काम (इच्छा), सङ्कल्प (विचार), विचिकित्सा (ऊपापोह, संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धैर्य), अधृति (अधैर्य), ह्री (लज्जा), धी (ज्ञान), भी (भय) सभी मन के ही विभिन्न रूप हैं। मन में आत्मा प्रतिष्ठित है- **मनसि हि आत्मा प्रतिष्ठितः**[११]।

उपनिषदों में मन को ही बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण बताया गया है- **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**[१२]। योगवासिष्ठ के अनुसार मन सर्वशक्तिमान है, संसार की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ मन के द्वारा ही निर्मित होती हैं। मन ही संसार का रचयिता है और यही सुख-दुःख की सृष्टि करता है-

सर्वेषु सुखदुःखेषु सर्वासुकलनासु च।
मनः कर्तृ मनो भोक्तृ मानसं विद्धि मानवम्[१३]॥

अतः वेदों में वर्णित नानाविध चिकित्सा पद्धतियों में से मानसिक

---

[७]तैत्तिरीयब्राह्मण ३.७.१.२

[८]अनन्तं वै मनः।, शतपथब्राह्मण १४.६.१.११

[९]गो. ब्रा. १.२.११

[१०]शत. ब्रा. १४.३.२.३

[११]शत. ब्रा. ६.७.१.२१

[१२]ब्रह्मबिन्दूपनिषद् २

[१३]योगवासिष्ठ ३.११५.२४

चिकित्सा भी एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है, जिसके द्वारा मानसिक रोगों के उपचार की विधि का वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद में कहा गया है- **त्वं मनसाचिकित्सीः**[१४]। अथर्ववेद में बहुत विस्तार से निम्नलिखित मनोविकारों एवं उनके महत्त्वपूर्ण समाधानों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रस्तुत पत्र में सूक्ष्म रूप से उनका विश्लेषण करने का यह लघु प्रयास है-

कामविकारों का वैदिक समाधान-

भारतीय ज्ञान-परम्परा एवं सनातन संस्कृति के मूल पुरुषार्थ चतुष्टय में काम को तृतीय पुरुषार्थ के रूप में परिगणित किया गया है। यद्यपि सामान्यतया काम इन्द्रियों की तृप्ति तथा वासना के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु पुरुषार्थ के रूप में काम का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। काम शब्द सङ्कल्प, इच्छा और कामना का भी वाचक है। अथर्ववेद के अनुसार काम सर्वशक्तिमान है तथा सम्पूर्ण विश्व का नेता अर्थात् सञ्चालक है - **वैश्वानरः**[१५]। नीतिवाक्यामृत नामक ग्रन्थ के कामसमुद्देश में काम के स्वरूप को परिभाषित करते हुए कहा गया है- **आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः**[१६] अर्थात् मन के साथ इन्द्रियों की स्व-स्व विषयों में अनुकूल प्रवृत्ति ही काम है। काम का अर्थ केवल यौन-इच्छा या यौन-प्रवृत्ति नहीं है, काम का अर्थ है सभी इन्द्रियों के विषयों के साथ संसर्ग से उत्पन्न आनन्द का अनुभव। शास्त्रों में धर्म सम्मत काम के सेवन की बात सदा से कही गई है, किन्तु जब यह कामना सब कुछ स्वायत्त करने की तीव्र तृष्णा से परिपूरित हो जाती है तो वह कामाग्नि का रूप धारण कर लेती है और व्यक्ति में अनेक मानसिक

---

[१४]अथर्ववेद ५.११.१

[१५]अथर्व. ३.२१.६

[१६]नीतिवाक्यामृतम्, कामसमुद्देश १, पृ.२०, सम्पा- पं.सुन्दरलालशास्त्री, वाराणसी १९७६

समस्याओं को पैदा करती है।

आज केवल युवा वर्ग ही नहीं अपितु किशोरवय बालक भी कामाग्नि रूपमनोविकारों से ग्रस्त हैं। चलचित्रों, विज्ञापनों एवं सोशल मीडिया में कामोत्तेजक सामग्री को देखकर वे उनसे अतिशय प्रभावित हो रहे हैं। बहुत बार सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण जब उन्हें अपनी कामज वासनाओं का दमन करना पड़ता है, तो उनके अचेतन मन में विद्यमान अतृप्त कामज वृत्तियों का प्रबल प्रवाह भी नानाविध मानसिक विकारों का कारण बनता है।

अथर्ववेद में कहा गया है कि यह कामरूप अग्नि सम्पूर्ण विश्व को जलाने वाला है- **यो देवो विश्वाद्यमु काममाहुः**[१७], यह कामाग्नि विश्व का भक्षक है, पुरुष का नाशक है तथा सब को जलाने वाला है-

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तःपुरुषरेषणः।

अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम्[१८] **॥**

कामविकारों की दाहकता भौतिक अग्नि से सैंकड़ों गुणा अधिक होती है। कामविकारों की ज्वाला शरीर और मस्तिष्क में ऊष्णता बढ़ाने वाली, विचारशक्ति का लोप करने वाली, अवयवों को शिथिल करनेवाली, शोक को बढ़ानेवाली और मुख को सुखाने वाली होती है- **शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा**[१९] **।** अथर्ववेद में इसको अत्यन्त विषाक्त बताया गया है- **तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि**[२०] **।**

अथर्ववेद कहता है कि हे काम! तू मुझे छोड़ कर मेरे शत्रु के पास

---

[१७]अथर्व. ३.२१.४

[१८]अथर्व. ३.२१.९

[१९]अथर्व. ३.२५.४

[२०]अथर्व. ७.११३.२

जा, मेरे शत्रु को उन्मत्त कर-

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय।

अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु[२१] **॥**

कामविकारों से पीड़ित व्यक्ति का मन तथा अन्तःकरण दोनों विकम्पित हो उठते हैं, वह सुख से निद्रा लेने में भी असमर्थ हो जाता है-

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।

इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि[२२] **॥**

वर्तमान युवापीढ़ी में कामविकारों के उत्पन्न होने का सबसे मुख्य कारण है- ब्रह्मचर्य का अभाव। अथर्ववेद का **ब्रह्मचर्य सूक्त** अत्यन्त विस्तार से इन सभी आयामों को उपस्थापित करता है[२३]। ब्रह्मचर्य धारण करने वाला व्यक्ति शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सभी प्रकार की उन्नति कर पाता है जबकि भोग-वासनाओं में लिप्त व्यक्ति कामाग्नि की उत्तरोत्तर वृद्धि से सन्तप्त होकर अधोगति को प्राप्त करता है।

वैदिक ऋषि कामाग्नि जनित इन विकारों के प्रशमन हेतु अथर्ववेद में अनेक उपायों का वर्णन करता है-

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः।

वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्[२४] **॥**

अर्थात् सोमादि वनस्पतियों से आच्छादित पर्वतों, झर-झर बहते झरनों, सुगन्धित वायु, पर्जन्य तथा अग्नि से युक्त प्रदेश, पुरुष के नाशक इस कामाग्नि को शान्त करने में सहायक होते हैं। वेद का ऋषि इस स्थल

[२१] अथर्व. ६.१३०.४

[२२] अथर्व. ३.२५.१

[२३] अथर्व. ११.५

[२४] अथर्व. ३.२१.१०

पर किसी भी सामान्य पर्वत की बात नहीं करता अपितु वह विशेषरूप से औषधीय वनस्पतियों से व्याप्त सोमपृष्ठ पर्वतों का उल्लेख करता है। ऐसे पर्वत प्रदेश कामाग्नि को शान्त करने में परम सहायक होते हैं। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर अथर्ववेद के अपने सुबोध भाष्य में इस विषय का सविशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि-'इसमें पहली बात तो पर्वतों का शान्त जलवायु काम को भड़कने नहीं देता है। शीतल प्रदेश की अपेक्षा उष्ण प्रदेश में कामाग्नि की ज्वाला शीघ्र और अधिक भड़क उठती है। इस विषय में दूसरी बात यह है कि सोम आदि शीतवीर्य वाली औषधियाँ सेवन करने से भी कामाग्नि की ज्वाला शान्त होती है। सोमवल्ली उगने वाले पर्वत शिखर हिमालय में है, वहाँ ही दिव्य औषधियाँ होती हैं। योगी लोग उनका सेवन करके स्थिरवीर्य और दीर्घजीवी होते हैं। तीसरी बात इसमें यह है कि ऐसी पहाड़ियों में प्रलोभन कम होते हैं, शहरों जैसे अत्यधिक नहीं होते, इसलिए भी काम की उत्तेजना शहरों जैसी यहाँ नहीं होती है इत्यादि अनेक उपाय इन पहाड़ों के साथ सम्बन्ध रखते हैं'[२५]।

मन्त्र में उल्लिखित **आप उत्तानशीवरीः** पद से जल को भी कामाग्नि का शमन करने वाला कहा गया है। शीतल जल में स्नान अथवा जलाशय में तैरने से शरीर में समशीतोष्ण अवस्था उत्पन्न होती है जिससे कामाग्नि की प्रगाढ़ ऊष्णता शान्त होती है। शीतल जल से मध्य शरीर का स्नान जिसे कटिस्नान भी कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य साधन के लिए बड़ा लाभदायक है। गुप्तेन्द्रिय का पार्श्ववर्ती प्रदेश रात्रि के समय अथवा जिस समय काम का उद्रेक अधिक हो, उस समय धो देने से ब्रह्मचर्य साधन में सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार जल की सहायता से विविध

---

[२५]अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, काण्ड ३, सूक्त २१

पद्धतियों से कामाग्नि को शान्त किया जा सकता है[२६]। मन्त्र में उल्लिखित निर्मल **वायु** एवं **पर्जन्य** से युक्त प्रदेश भी कामाग्नि को शान्त करने में सहायक होते हैं।

आधुनिक मनोचिकित्सक भी कामाग्नि से पीड़ित मनोरोगियों को इसी पद्धति से कुछ दिन पहाड़ों, समुद्र तटों अथवा अन्य शान्त वातावरण वाले अनुकूल स्थानों पर समय व्यतीत करने की सलाह देते हैं, जिससे उनका कामाग्नि जनित अवसाद दूर होता है और उनको मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

अथर्ववेद में मानसिक रोग से पीड़ित रोगियों के लिए कामाग्नि उपशम का साधन यज्ञादि कर्मानुष्ठानों एवं शुद्ध अन्तःकरण से सविता, इन्द्र आदि देवताओं की स्तुति करने का भी उल्लेख किया गया है-

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्।
विश्वान्देवानङ्गिरसोहवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम्[२७]॥

अग्नि और सविता देव शरीर की कोमलता को समाप्त कर उसे अपने तेज से सुदृढ़ करते हैं। अत एव प्रातःकालीन सूर्य के मध्यम प्रकाश में भ्रमण का महत्त्व बताया जाता है। प्रातःकालीन यह ताप स्नान अत्यन्त लाभप्रद होता है। वेदों में इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, विश्वदेव तथा अङ्गिरस आदि देवता विविध विद्याओं के प्रतीक माने जाते हैं। अङ्गिरस जीवनरस विद्या के, बृहस्पति ज्ञान के तथा इन्द्र जीवात्म और परमात्मविद्या के देवता माने गए हैं। इन सभी विद्याओं की समुचित साधना एवं ब्रह्मचर्य के शुभसङ्कल्पों द्वारा व्यक्ति कामाग्नि को संयमित कर उससे उत्पन्न होनेवाले विकारों को भी शान्त कर सकता है।

---

[२६]वही

[२७]अथर्व. ३.२१.८

क्रोधजनित विकारों का वैदिक समाधान-

प्रायः देखा जाता है कि क्रोध आबाल वृद्ध सभी मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान होता है। सभी को क्रोध आता है, किसी को कम तो किसी को अधिक किन्तु अत्यधिक क्रोध का आना रोग का लक्षण माना जाता है। जब व्यक्ति की इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती तो उसका मन क्रोध से भर उठता है और अपराध की प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं। उच्च रक्त प्रवाह, पारिवारिक संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, वातावरण, आहार आदि भी व्यक्ति के स्वभाव को क्रोधी बनाने में सहायक होते हैं। अत्यधिक क्रोध से शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव शास्त्रकारों ने क्रोध को भी मानसिक विकार के रूप में स्वीकार किया है।

आज की युवापीढ़ी में क्रोध जनित विकारों की मात्रा बहुत बढ़ी है। उनमें सहिष्णुता का सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है। छोटी छोटी बातों पर क्रोध की व्यर्थ अभिव्यक्ति एवं चिड़चिड़ापन आज के युवावर्ग का साथी बन चुका है।

वेदों के अनुसार क्रोध पारस्परिक विद्वेष को उत्पन्न करने वाला तथा हृदय का दहन करनेवाला है। अतः क्रोध को मन से दूर करना अत्यावश्यक है। अथर्ववेद के अनुसार परस्पर साम्मनस्य और सख्य-भाव क्रोध को दूर करने में सहायक है। जिस प्रकार युद्ध समाप्ति होने पर धनुषों से ज्या को उतार कर रख दिया जाता है, उसी प्रकार अनावश्यक बातों में भी क्रोध को हृदय से दूर ही रखना चाहिए-

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै[२८] **॥**

अथर्ववेद में क्रोध के उपशमन के लिए एक दर्भ विशेष रूप

---

[२८]अथर्व. ६.४२.१

औषधि का भी उल्लेख प्राप्त होता है। यह दर्भ विशेष अनेक जड़ों वाला तथा समुद्र के समीप उत्पन्न होता है। अथर्ववेद में इसे अपने और दूसरों के क्रोध को शान्त करने वाला बताया गया है-

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते॥
अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते[२९] ॥

कौषीतकि सूत्र में भी इस दर्भ को औषधि के रूप में चिह्नित किया गया है- **अयं दर्भ इत्यौषधिवत्**[३०]। जो दर्भ समुद्र के समीपवर्ती स्थानों में पाए जाते हैं एवं बहुमूल होते हैं, वही क्रोध को शान्त करने के लिए उपयोगी हैं। समुद्र तट पर उत्पन्न होने वाले इन दर्भों के मूल का लेप बनाकर ललाट पर लगाने से अथवा रसरूप में उसके सेवन करने से क्रोध का शमन होता है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्रियों को निश्चय ही अथर्ववेद में उल्लिखित इस दर्भ विशेष के औषधीय गुणधर्मों का परीक्षण कर इसका प्रयोग करना चाहिए।

क्रोध से अभिभूत व्यक्ति का मन बहुत बार इतना अस्वाभाविक हो जाता है कि वह उन्मत्त सा आचरण करने लगता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों को हानि पहुँचाने के साथ-साथ स्वयं पर भी आघात कर बैठता है। अथर्ववेद में क्रोधजनित इस उन्मत्तता के उपाय के लिए अग्नि उपासना विधि का वर्णन किया गया है-

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति[३१] ॥

---

[२९]अथर्व. ६.४३.१-२

[३०]कौषीतकि सूत्र ४.१२

[३१]अथर्व. ६.१११.१

ईर्ष्याजनित विकारों का वैदिक समाधान-

ईर्ष्या मनुष्यों में व्याप्त एक जटिल प्रवृत्ति है, दूसरों की उन्नति को देख सहन न कर पाना ही ईर्ष्या कहाता है- **ईर्ष्या परोत्कर्षासहिष्णुत्वम्**[३२]। इसमें अनेक भाव सन्निहित हो सकते हैं, जैसे- लालसा, हीनभावना, दुर्भाव और आक्रोश आदि। वस्तुतः ईर्ष्या में एक अपूर्णता का भाव छिपा होता है, जिसके कारण व्यक्ति दूसरों के समक्ष स्वयं को कमतर पाता है। वर्तमान युवापीढ़ी में बढ़ती महत्त्वाकाङ्क्षाएँ एवं सोशल मीड़िया का प्रयोग ईर्ष्या की वृद्धि में बड़ी भूमिका निभाते हैं, जिससे अवसाद और दुश्चिन्ता आदि नकारात्मक भावनाएँ अपने उच्चतम स्तर को पार कर मनोरोग का रूप धारण कर लेती हैं।

अथर्ववेद में ईर्ष्यासूक्त में ईर्ष्या के दुष्प्रभावों के विषय में कहा गया है कि- ईर्ष्यारूप अग्निहृदय के अन्दर शोक उत्पन्न करनेवाली, हृदय को जलाने वाली तथा आयु का नाश करनेवाली होती है। ईर्ष्या करने वाले का मन मृत व्यक्ति की तरह होता है, उसके मन में शुभविचारों और शुभसङ्कल्पों का अभाव हो जाता है। अथर्ववेद में ईर्ष्यालु व्यक्ति को मरे हुए से भी अधिक मरा हुआ माना गया है। यह ईष्या मन का दहन करने वाला तथा मनुष्य के पतन का कारण है-

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥
यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥
अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।

वैदिक ऋषि इस मनोविकार से मनुष्यों को मुक्त करने की प्रतिज्ञा

[३२]महाभारत, भीष्मपर्व, १०.१४ (टिप्पणी)

करते हुए उद्घोष करता है-

ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव[33] ॥

अथर्ववेदीय मन्त्रों में ईर्ष्या आदि द्वेषभावों को किसी औषधि विशेष के प्रयोग से दूर करने का उल्लेख प्राप्त होता है। यह कल्याणकारी औषधि किसी विशिष्ट जनपद से अथवा किसी समुद्र के पास से लाई जाती थी, जिसके प्रभाव से मन में स्थित ईर्ष्या को दूर किया जा सकता था। यह औषध अन्य अनेक मानसिक रोगों के निवारण में भी समर्थ मानी जाती थी-

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम्।
दूरात् त्वा मन्य उद्धृतमीर्ष्याया नाम भेषजम्॥
अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्राग्निमिव शमय[34] ॥

परन्तु इन मन्त्रों में उल्लिखित औषधि का स्पष्टतः उल्लेख प्राप्त नहीं होता। आयुर्वेदिक चिकित्साशास्त्रियों के लिए यह अनुसन्धान का विषय है। इतना ही नहीं वैदिक काल में मनुष्यों में व्याप्त क्रोध एवं ईर्ष्यालु प्रवृत्ति को शान्त करने के लिए उपबोधन पद्धति (Counselling) के प्रयोग का उल्लेख भी प्राप्त होता है-

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम्।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि[35] ॥

अन्तःकरण में सञ्चित पापों एवं अपराध बोध का वैदिक समाधान-

मनुष्य में व्याप्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, ईर्ष्या, वासना

[33]अथर्व. ६.१८.१-३

[34]अथर्व. ७.४५.१-२

[35]अथर्व. ७.७४.३

आदि सभी नकारात्मक प्रवृत्तियाँ और कुछ नहीं वरन् मानसिक ऊर्जा का ही प्रतिरूप हैं। व्यक्ति यदि अपनी ऊर्जा का उपयोग सद्भावपूर्वक शुभकर्मों में करता है तो यह पुण्य कहलाती है। इसके विपरीत यदि वही ऊर्जा अशुभकर्मों में प्रयुक्त होती है तो अनायास ही मन को पाप विचारों से भर देती है, जिससे मनुष्य अपराध की तरफ प्रवृत्त हो जाता है। मनुष्य द्वारा किए गए ये पापाचरण संस्काररूप में अन्तःकरण (मन, बुद्धि एवं चित्त) में सञ्चित होते रहते हैं। बहुत बार मनुष्य ऐसे आचरणों पर बाद में पश्चाताप भी करता है। साथ ही कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि व्यक्ति दूसरों के द्वारा किए गए अपराधों अथवा अपने किसी प्रिय के साथ हुई दुर्घटना का जिम्मेदार स्वयं को मानता हुआ भी पश्चाताप का बोझ अपने ऊपर ले लेता है और अपराध बोध से ग्रसित हो उठता है।

मनुष्य द्वारा किए गए अपराध अथवा किसी भी रूप में अपराध का बोध दोनों ही मानसिक रोगों के बड़े कारण माने गए हैं। वैदिक ऋषियों ने इस प्रकार के रोगों की ओर भी ध्यान केन्द्रित किया है। अथर्ववेद के अनुसार अन्तःकरण में सञ्चित पाप और अपराध-बोध मनो-कायिक (Psycho somatic) रोगों के रूप में शरीर में प्रकट होते हैं। जिनका उपशमन ब्रह्मभाव अर्थात् ज्ञान से सम्भव है-

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु[३६] ॥

इसके अतिरिक्त आथर्वणिक ऋषियों ने यज्ञादि के द्वारा भी अन्तःकरण में सञ्चित पापों और दुर्विचारों के निराकरण का वर्णन किया है। अथर्ववेद में प्रार्थना की गई है कि- जाने अनजाने किसी भी रूप में हमसे जो पाप हो चुका है, जिसके कारण यह देव (हमारी इन्द्रियाँ)

[३६]अथर्व. ६.११३.१

क्रोधित हैं अर्थात् विकार से ग्रस्त हैं, उन विकारों से मुक्त होने के लिए हम सत्य रूप यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं-

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत॥
ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम[३७] **॥**

प्रकृत स्थल पर यज्ञकर्म का भाव यह है कि- पारस्परिक दुर्भावनाओं को समाप्त कर साम्मनस्य की भावना से समाज और राष्ट्र के लिये कार्य करना तथा क्रोध-ईर्ष्यादि को दूर करके सर्वजनहिताय आत्मसमर्पण करना- **इदं राष्ट्राय इदन्न मम।** वर्तमान युवापीढ़ी में आज इन्हीं नैतिक विचारों को विकसित करने की अत्यन्त आवश्यकता है। यही उनकी आत्मिक शुद्धता का परमोपाय है।

अथर्ववेद में तीन प्रकार की शुद्धता की बात कही गई है- अन्तःशुद्धि, बाह्यशुद्धि और सम्बन्धशुद्धि। जिस प्रकार अग्नि से ऊष्ण कर और छलनी से मल को दूर कर घृत को पवित्र किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी यज्ञरूपी कर्मों के द्वारा अपने अन्तःकरण से सभी प्रकार के मलरूपी पाप विचारों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए, यही अन्तःकरण की शुद्धि है। इसी प्रकार बाह्यशुद्धि स्नानादि से तथा सम्बन्धशुद्धि दुसङ्ग और असद्भाव को त्यागकर की जा सकती है। इस त्रिविध शुद्धि से मनुष्य सभी प्रकार के पापों, पापविचारों, अपराधबोधों एवम् अपवित्रताओं से मुक्त हो सकता है-

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः[३८] **॥**

[३७] अथर्व. ६.११४.१-२

अथर्ववेद का मानना है कि व्यक्तिन केवल स्वयं के दुराचरणों के कारण व्याधियों से ग्रस्त होता है अपितु माता-पिता के द्वारा किए गए पापाचरणों के कारण भी सन्तान में अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं-

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते[३९] **॥**

वेद का ऋषि पापविकारों से ग्रसित रोगी को कहता है कि मैं तुझे ऐसी योग्य औषधि प्रदान करता हूँ, जिसके सेवन से तू निश्चय ही दीर्घायु होगा- **प्रत्यक्सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा**[४०]**।** अथर्ववेद में सोम नामक एक ऐसी औषधि का भी उल्लेख प्राप्त है, जिससे शत-शत रोगों का उपचार सम्भव है[४१]। यह औषधि विभिन्न शारीरिक असाध्य रोगों के साथ-साथ दुर्वचनों से उत्पन्न मानसिक रोगों तथा चक्षु, मन एवं वाणी से जाने-अनजाने में किए गए पापों को भी शान्त करने में सक्षम है-

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात्॥
यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु[४२] **॥**

दुःस्वप्न का वैदिक समाधान-

असन्तुलित दिनचर्या, अनियमित निद्रा एवं विकृत जीवनशैली

---

[३८]अथर्व. ६.११५.३

[३९]अथर्व. ५.३०.४

[४०]अथर्व. ५.३०.५

[४१]या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ अथर्व. ६.९६.१

[४२]अथर्व. ६.९६.२-३

आदि कारणों से जनित विकारों से उत्पन्न दुःस्वप्न जैसे मानसिक विकार भी वर्तमान युवापीढ़ी में बड़ी मात्रा में बढ़ रहे हैं। अथर्ववेद में इसे ग्राहि नामक व्याधि का पुत्र तथा मृत्यु का कारण तक कहा गया है- **विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः**[४३]। यह मनुष्य की सुख-शान्ति को नष्ट करने वाला साक्षात् मृत्यु स्वरूप है- **अन्तकोऽसि मृत्युरसि**[४४]।

अथर्ववेद में ब्रह्मस्वरूप सत्यज्ञान के द्वारा अन्तःकरण में स्थित मानसिक, वाचिक और बौद्धिक पापविचारों को दूर कर अवनति कारक और शोकोत्पादक दुष्ट स्वप्नों से मुक्ति की बात की गई है-

पर्यावर्तेदुःष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः[४५]॥

अथर्ववेद के अनुसार प्रगाढ़ निद्रा, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य हेतु अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए मनुष्य को संयम आदि के द्वारा चक्षु-घ्राण आदि समस्त इन्द्रियों का सम्यक् निग्रह कर, प्राण को शान्त करना चाहिए, जिससे विश्रान्तिकारक सुखद निद्रा आती है और दुःस्वप्नों से छुटकारा प्राप्त होता है-

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम्।
अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे[४६]॥

भय एवं अपमृत्यु (आत्महत्यादि) निवारण के वैदिक उपाय-

वर्तमान युवापीढ़ी में एक अन्य मानसिक विकार अधिक मात्रा में

---

[४३]अथर्व. १६.५.१

[४४]अथर्व. १६.५.२

[४५]अथर्व. ७.१००.१

[४६]अथर्व. ४.५.४

दिखाई पड़ता है, वह है भय। मनोविज्ञान की दृष्टि में भय अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे- बंद कमरे में अकले रहने का भय, सम्बन्धों में एकाकीपन का भय, अन्धकार का भय, पशु-पतङ्गों का भय, किए गए कार्यों के फल तथा किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व उसके परिणाम का भय आदि। यदि कोई व्यक्ति पहले से ही किन्हीं मानसिक समस्याओं से ग्रस्त हो तो भय का यह विकार और अधिक बढ़ जाता है। ऐसा व्यक्ति रुग्णावस्था में, सड़क पार करते समय, किसी से बात करते समय अथवा भीड़ को देखकर भी डरने लगता है। इस विकार से पीड़ित रोगी इतनी अधिक पीड़ा का अनुभव करने लगता है कि बहुत बार वह अपनी मृत्यु तक की प्रार्थना करता है।

अथर्ववेद में अनेक ऐसे सूक्त विद्यमान हैं, जहाँ निर्भय जीवन जीने का उपदेश दिया गया है। वेद के अनुसार जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी, रात्रि और दिन, सूर्य और चन्द्र, ब्रह्म और क्षत्र, सत्य और अनृत, भूत और भव्य भय रहित होकर विनाश को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भयभीत मत हो तथा अपने कर्त्तव्य का पालन कर-

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः[४७] **॥**
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः[४८] **॥**
अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।
अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु[४९] **॥**

---

[४७]अथर्व. २.१५.१

[४८]अथर्व. २.१५.३

[४९]अथर्व. ६.४०.१

इस अभय नामक सूक्त में वैदिक ऋषि द्यावापृथिवी, सोम, सविता, अन्तरिक्ष और सप्तर्षियों आदि से अभय की प्रार्थना करता है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के अनुसार इस सूक्त के मन्त्रों में उल्लिखित सभी देव मनुष्यों के अन्दर ही विद्यमान हैं, सप्तर्षि जहाँ सप्तइन्द्रियों के रूप में हमारे शरीर में अवस्थित हैं, वहीं सूर्य चक्षु के रूप में, चन्द्रमा मन के रूप में, दिशा श्रोत्र के रूप में, पृथिवी स्थूल शरीर के रूप में, अन्तरिक्ष अन्तःकरण के रूप में तथा द्युलोक मस्तिष्क के रूप में विद्यमान है। शरीर में अंश रूप में वर्तमान ये देव हमारे अन्दर अभय स्थापित करें[५०]।

इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों को कुमार्ग से निवृत्त कर सत्कर्मों को प्रवृत्त करने से शत्रुरूपी रोगों तथा कुविचारों का शमन होता है और मन में निर्भयता का मार्ग प्रशस्त होता है। वेद का ऋषि भय से ग्रस्त रोगी के मन को विश्वासों से भर देता है। वह कहता है कि तू भयभीत न हो, तू मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा। मैं तुझे पूर्ण आयु से युक्त करता हूँ। तेरे शरीर से अङ्गज्वर, यक्ष्मादि को मैं दूर करता हूँ-

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव[५१] **॥**

आज के मनोविशेषज्ञ भी इसी उपबोधन पद्धति (Counselling) से रोगी के मन से भय को दूर करने का प्रयास करते हैं।

अथर्ववेद में अपमृत्यु (आत्महत्या) आदि से बचने के लिए बोध और प्रतिबोध नामक दो शक्तियों एवं प्राणाग्नि उपासना का वर्णन प्राप्त होता है। व्यक्ति अपने विवेक और बुद्धि से जीवन के मर्म को समझ कर आत्महत्या आदि पापकृत्य नहीं कर सकता-

---

[५०]अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, काण्ड ६, सूक्त ४०

[५१]अथर्व. ५.३०.८

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्[५२] **॥**

इसी प्रकार प्राणाग्नि की उपासना से व्यक्तिमृत्यु रूपी घनान्धकार से मुक्त हो आत्मप्रकाश से उद्भासित होने लगता है-

अयमग्निरूपसद्य इह सूर्य उदेतु ते।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि[५३] **॥**

अपमृत्यु को दूर करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन भी अमोघ उपाय है। गुरुकुलों में पढ़ने वाले ब्रह्मचारियों में आज भी आत्महत्या का दृष्टान्त न के बराबर है, जबकि वहीं दूसरी ओर आधुनिक संस्थानों में पढ़ने वाले किशोरों और युवाओं में आत्महत्या का प्रतिशत दिनानुदिन बढ़ता ही जा रहा है-

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्[५४] **॥**

उपसंहार-

वैज्ञानिक उन्नति के शिखर पर पहुँच चुका आधुनिक सभ्य समाज तमाम चिकित्सकीय साधनों की अकूत सुविधाओं से सम्पन्न होते हुए भी आज की युवापीढ़ी में बढ़ती जा रही उपर्युक्त मानसिक बीमारियों का कारगर उपाय नहीं खोज पा रहा है। ऐसे समय में अथर्ववेद के माध्यम से वैदिक ऋषियों ने उन समस्याओं को बहुत पहले ही चिह्नित कर उनके जो समाधान प्रस्तुत किए हैं, वे निश्चय ही वर्तमान समय में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

---

[५२]अथर्व. ५.३०.१०

[५३]अथर्व. ५.३०.११

[५४]अथर्व. ११.५.१९

वेदों में प्रतिपादित मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में सङ्कल्प चिकित्सा पद्धति का भी अन्यतम स्थान है। अथर्ववेद का ऋषि काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय, पाप एवम् अपराधबोध जैसे विविध मानसिक विकारों का निदान प्रस्तुत करता हुआ, पीड़ित व्यक्ति के मन को उत्साह, धैर्य, सद्गुण एवं शक्ति के शुभ सङ्कल्पों से भर देता है। वस्तुतः इस सङ्कल्पशक्ति को ही वैदिक मनोचिकित्सा का मूल कहा जा सकता है, जिसके माध्यम से मनुष्य समस्त अभीप्सित लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि मन की सर्वप्रथम गति **काम** अर्थात् **सङ्कल्प** ही है-

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि[५५] **॥**

यजुर्वेद का शिवसङ्कल्प सूक्त इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सूक्त में मन की कल्याणकारिणी सङ्कल्प शक्ति का जिस रूप में वर्णन किया गया है, वह समसामयिक सन्दर्भों में भी प्रत्येक युवा के लिए सत्य, शिव और सुन्दर जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में अवश्य ही इसको सम्मिलित किया जाना चाहिए-

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु[५६] **॥**

यह शिवात्मक सङ्कल्प शक्ति आज की युवापीढ़ी के अन्तःकरण में सकारात्मक ऊर्जा, सृजनशीलता और आत्मविश्वास का सञ्चार कर नई सम्भावनाओं के द्वार खोलने में सक्षम है। जिस दिन हमारा युवावर्ग इस सङ्कल्प शक्ति से युक्त हो अपने कर्म का सामर्थ्य जान लेगा तो निश्चय ही

[५५]अथर्व. १९.५२.१

[५६]यजुर्वेद ३४.१

वह अपने बायें हाथ से विजय का आलिङ्गन करता हुआ समस्त ऐश्वर्यों और सिद्धियों का अधिपति होगा और भारतवर्ष को पुनः एक बार वैश्विक महाशक्ति के रूप में पुनः प्रतिष्ठापित कर सकेगा-

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित्[५७] **॥**

[५७]अथर्व. ७.५०.८

अथर्ववेद में भेषज-चर्चा

डॉ. नन्दिनी रघुवंशी[1]

मनुष्य को अपनी आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नति के लिए उन्नत ज्ञान के साथ-साथ एक विशिष्ट ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता हुई, स्वस्थवृत्त अर्थात् स्वस्थ जीवन जीने के सूत्र, जिनके बिना किसी प्रकार की उन्नति कर पाना असम्भव था। इसी स्वस्थवृत के सूत्र समग्र वेदराशि में विशेषतः अथर्ववेद में यत्र-तत्र दृग्गोचर होते हैं। वैदिक साहित्य में प्रस्फुटित आयुर्वेद के सूक्ष्म अङ्कुरों ने सहस्रों वर्ष पहले ही विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया था। जिसके मधुर फल से मानव स्वयं को नीरोग एवं पुष्ट कर रहा है। प्राचीन काल से ही हमारे पूर्वज प्रकृति प्रदत्त ओषधियों के रोगनाशकत्व एवं सुस्वास्थप्रदानत्वादि गुणों से सुपरिचित थे। शरीररक्षण एवं शरीर के विकारग्रस्त होने पर ओषधि सेवन द्वारा स्थास्थ्यलाभ किया जा सकता है। खाद्य, खनिज एवं औषध आदि के लिए ओषधि शब्द का प्रयोग इसकी व्यापकता को दर्शाता है। आचार्य सायण ने भाष्य में स्पष्ट किया है कि फलिनी और मूलिनी दो प्रकार की ओषधियाँ होती हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी यही मत अभीष्ट है-

---

[1] **सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

द्व्यो वा ओषधयः पुष्पेभ्योऽन्या फलं गृह्णन्ति। मूलेभ्योऽन्याः।[२]

ताण्ड्य ब्राह्मण में कृष्टपच्या और अकृष्टपच्या दो प्रकार की ओषधियां बतायी गई है। अथर्ववेद में विविधावयवों तथा रूपभेद के कारण ओषधियों के रूपों का वर्णन इस प्रकार है- प्रस्तृणनी, स्तम्बिनी, एकशुङ्गा, अंशुमती, काण्डिनी, विशाखा, वीरुध आदि। अथर्ववेद में ओषधियों के विविध वर्ण वर्णित हैं- भूरा, नीला, श्वेत, काला आदि।[३] अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में ओषधियों एवं वनस्पतियों को जल से सम्बद्ध माना गया है, इसलिए ओषधियों को मधुमयी अथवा मधुर कहा गया है। वीरुधों के मूल, अग्रभाग, मध्यभाग, पर्ण तथा पुष्प को मधुमय कहा गया है।[४] अथर्ववेद में लगभग शताधिक ओषधियों का विस्तृत विवेचन उनके स्वरूप गुणधर्मादि के आधार पर किया गया है । जिससे मनुष्य अपने रोगादि के निवारण में समुचित प्रयोग कर सके। उनमें से कुछ प्रमुख ओषधियों का वर्णन इस पत्र में किया जा रहा है।

अजश्रृंगी- 'असुर-विनाशन' हेतु इस ओषधि का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए अथर्ववेद में 'विषाणिन्' शब्द का प्रयोग किया गया है। सामान्यतः इसे अराटकी नाम से जाना जाता है। यह एक विशिष्ट गन्ध वाली ओषधि है[५]। इसकी सहायता से गन्धर्वों तथा अप्सराओं को

---

[२] तै.ब्रा. ३/८/१७/४

[३] या बभ्रुवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत प्रश्नयः।
असिन्कीः कृष्णा ओषधीसर्वा अच्छावदामसि॥ अ. वे. ८/४/४

[४] मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव।
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता।
अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्यतां गोपुरोगवम्॥ अ. वे. ८/१/१२

[५] वैद्यक शब्द सिन्धु, पृ.१७ (उमेश चन्द्र शर्मा, कलकत्ता १८८४)

भी दूर किया जाता था। अथर्ववेद मन्त्र संख्या ४/३७/६ में इसे सबसे शक्तिशाली ओषधि बताया गया है। इसका अपरनाम कर्कटश्रृंगी भी है। लोकभाषा में इसे कक्कड़ कहते हैं। कासरोग में इसकी छाल का प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद होता है। यह Anacardiaceous परिवार की ओषधि है।

अपामार्ग- अथर्ववेद के सप्तम काण्ड के ६५वें सूक्त में अपामार्ग का प्रयोग दन्तरोगनिवारक ओषधि के रूप में वर्णित होता है। वर्तमान में सामान्य भाषा में लटजीरा, ओंगा, चिरचिटा आदि नाम से इसका प्रयोग प्रचलित है। दन्तमार्जनी के लिए इसका प्रयोग सामान्यतः प्रचलित है। यह सर्वपापनिवारिणी ओषधि है-

यदुष्कृतं यच्छमलं यद्वां चेरिम पापयै।
त्वया तद्विश्वतो मुखापामार्गाप मृज्महे॥[६]

अर्थात् जो पाप अथवा दुष्कृत्य हमने पापवृत्ति से अर्जित किए हैं, उन्हें सर्वतोमुखी अपामार्ग से हल करते हैं। इस ओषधि के प्रयोग से क्षुत्पिपासाजनित मृत्यु तथा पुत्रपश्वादियों का अभाव दूर हो जाता है।[७] यह श्वेत अपामार्ग व रक्त अपामार्ग के रूप में पाया जाता है। मुखरोग, कर्णरोग, वक्षरोग आदि में इसका प्रयोग बहुत अधिक लाभकारी है। यह Amaranthaceous परिवार की ओषधि है तथा अंग्रेजी में इसे Prickly Chaff Flower कहते हैं।

अरुन्धती - व्रणोपशमन करने, ज्वर दूर करने तथा गायों के प्रचुर दूध देने हेतु 'अरुन्धती' नामक ओषधि का प्रयोग किया जाता था।

---

[६] अथर्व ७/६५/२

[७] क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ अ.वे. ४/७/६

अथर्ववेद में इसका वर्णन बहुतायत से आता है। यह एक प्रकार की लतिका है, जो प्लक्ष, अश्वत्थ तथा न्यग्रोध वृक्षों पर चढ़ जाती है।[८]

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीम् ॥[९]

यह अरुन्धती लतिका सुनहरे वर्ण वाली तथा मधुर रसवाली होती है। इसे स्त्री-पुरुषों तथा पशुओं के यक्ष्मा-रोग दूर किए जाते हैं।[१०] रुद्र के बाण से आहत पशुओं के रोगग्रस्त होने पर उन्हें इनका सेवन कराया जा सकता है।[११]

आज्जन- यह किसी पर्वतविशेष[१२] सम्भवतः तीन शिखरों वाले हिमवान् पर्वत पर उत्पन्न होती है।[१३] तक्मन्, बलास तथा सर्प-दशन आदि रोग- निवारण में यह पूर्णता उपयोगी है।[१४] इससे बने अञ्जन को पुरुषों स्त्रियों को ही नहीं अपितु गायों तथा तीव्रगामी अश्वों को भी लगाया जा सकता है,[१५] क्योंकि यह लगाने वाले के नेत्रों की रक्षा करके उसे लाभ पहुँचाता है। इस ओषधि के प्रयोग से हरिया, जायान्य, विसल्पक तथा यक्ष्मा आदि रोग दूर हो जाते हैं ।[१६]

---

[८] भद्रात्प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थाखदिराद्ध्वात्।
भदान्न्यग्रोधात्पर्णात्सा न एह्यरुन्धति। अ.वे. ५/५/५

[९] अ. वे.- ५/५/६, ८/७/६

[१०] अ. वे.- ६/५९/२

[११] सा नो रुद्रस्यास्तां हेति दूरं नयतु गोभ्यः। अ.वे.६/५९/३

[१२] अ.वे.४/९/१

[१३] अ.वे. ४/९/९

[१४] अ.वे. ४/९/८

[१५] अ.वे. ४/९/२

[१६] अ.वे. १९/४४/२,६,७

उदुम्बर - सर्वविध पुष्टता के लिए 'उदुम्बर' का प्रयोग किया जाता है।[१७] कृपणता, कुमति तथा बुभुक्षा के निवारणार्थ इसकी बनी मणि धारण की जाती है।[१८] इसे जन्तुफल, यज्ञाङ्ग, हेमदुधक, सदाफल, श्वेतवल्कल, अपुष्प, काकोदुम्बरिका नाम से भी जाना जाता है। कर्ण रोग, मुखरोग, कुष्ठरोग तथा उदररोग में इसका प्रयोग लाभजनक है।

उपजीवा - **यद्वो देवा उपजीवा आसिञ्चन्धन्वन्युदकम्।**
तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम्॥[१९]

उपजीवा एक विषनिवारक ओषधि है, जिसे देवों ने मरुदेश में जल से अभिसिञ्चित किया। एक मन्त्र में इसे असुरों की पुत्री तथा देवताओं की बहन कहा गया है।[२०] द्युलोक से लाकर पृथ्वीलोक पर इसको उत्पन्न किया गया था। यह सम्भवतः कोई परजीवी लता होगी।

कुष्ठ- अथर्ववेद के ५/४, ६/१०२, १९/१३९ में सूक्तों में इसका वर्णन हुआ है। यह बलशालिनी ओषधि पर्वतों तथा विशेष करके हिमालय के उच्च-शिखरों पर उगती थी।[२१] शिरोरोग, नासारोग, वक्षरोग आदि में इसका प्रयोग होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा में इसे कूट या कूठ कहते हैं। ज्वर शान्त करने के कारण इसे 'तक्मन्नाशन्' की उपाधि से सुभूषित किया गया है।[२२] अपने विशिष्ट गुणों के कारण यह 'विश्वभेषज' नाम से प्रसिद्ध है। शिरोरोग, नासारोग, वक्षरोग,

[१७] अ.वे. १९/३१/१०

[१८] अ.वे. १९/३१/११

[१९] अ.वे. ६/१००/२

[२०] अ.वे. ६/१००/३

[२१] अ.वे. ५/४/१

[२२] अ.वे. ५/४/१०

आस्थसन्धिवात रोगों में इसका प्रयोग अप्रत्याशित उपकारक है।

गुग्गुल- अथर्ववेद के अनुसार सिन्धु से उत्पन्न हुई ये ओषधि जिसको भी व्याप्त कर लेती है, उसे यक्ष्मा आदि रोग कभी नहीं होते हैं।[२३]

विश्वञ्चस्तस्माद्यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते।
यद् गुल्गुलसैन्धवं यद्वाप्यासि समुद्रियम्॥[२४]

अर्थात् जो भी व्यक्ति सैन्धव, समुद्रिय गुग्गुलौषधि को ग्रहण करता है, उसके पास से यक्ष्मा रोग अश्वों व मृगों की भाँति पलायन कर जाता है। इसके गोंद का प्रयोग सन्धिशोथ में शोथरोधी प्रक्रियाओं में किया जाता है। नेत्ररोग, कर्णरोग, वक्षरोग तथा उदररोगादि में भी इसका प्रयोग अत्यन्त लाभदायक है। यह Burseraceae परिवार का है तथा इसका अंग्रेजी नाम Indian bedellium है।

पाटा- पीलुफला, अम्बष्ठकी, पाठा, विद्धकर्णी, स्थापनी, श्रेयसी, पापचेली, प्राचीना, अश्मसुता, पापचेलिका, तिक्तपुष्पा तथा शिशिरा आदि नामों से यह ओषधि समस्त संस्कृत वाङ्मय प्रयुक्त होती है। इसे शोभन पर्णों वाले सुपर्ण (गरुड़) पक्षी ने विष को प्रभावहीन बनाने के लिए खोजा था।[२५]

इन्द्रो इ चक्रे त्व बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे।[२६] इस मन्त्र के अनुसार इन्द्र ने असुरों को मारने के लिए इसे अपनी भुजाओं पर बाँधा था। इस ओषधि का प्रयोग शत्रु विनाशन तथा प्रतिवादियों को असमर्थ बनाने के

---

[२३] अ.वे. १९/३८/१

[२४] अ.वे. १९/३८/२

[२५] अ.वे. २/२७/२

[२६] अ.वे. २/२७/३

लिए किया जाता था।[२७] सामान्यतः शिरोरोग, नासारोग, मुखरोग, उदररोग आदि में इसका प्रयोग किया जाता है।

इनके अतिरिक्त ऋतावरी, तितली, पिप्पली, पृश्निपर्णी, मधुला, दर्भ, रेवती, रोहिणी, लाक्षा, विषाणका, शतवार/शतावर, सदम्पुष्पा, सहस्रपर्णी, सोम, अङ्ग, अजिर, अपराजिता, अभीवर्त, यामुन, त्रैकुदाञ्जन, पिप्पली, लाङ्गली, त्रिसन्ध्या, सस्यमञ्जरी, दर्भ, दूर्वा, उत्पलकन्द आदि शताधिक ओषधियों पर चिन्तन कर उनसे लाभ लिया जा सकता है। इन ओषधियों का एलोपैथी दवाइयों में बहुतायत से प्रयोग किया जाता है। वर्तमान चिकित्सापद्धति एवं औषधविज्ञान प्रायः सब हमारे वैदिकविज्ञान से अनुप्राणित हैं। समस्त चिकित्साविज्ञान वैदिक साहित्य का ऋणी है, विशेष रूप से अथर्ववेद का। अथर्ववेद में ओषधियों के गुणधर्म के साथ उनके बाह्य स्वरूप तथा विशिष्ट चिकित्सकीय प्रयोगों पर विशिष्ट मन्त्र प्राप्त होते हैं। ये ओषधियाँ सिर्फ मनुष्य ही नहीं अपितु सभी प्राणधारियों के लिए सर्वतोमुखी भद्रकारिणी हैं। वर्तमान समय में यदि प्राचीन वेदोक्त ओषधि एवं चिकित्सापद्धति को साथ ले वर्तमान नूतन प्रयोग पूर्वक व्यवहार करें तो समस्त मानव जाति इतोऽपि लाभान्वित हो सकेगी।

[२७] अ.वे. २/२७/५-६

अथर्ववेद में काव्यशास्त्रीय तत्त्व

डॉ. सन्त प्रकाश तिवारी[१]

साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से भी वैदिक वाङ्मय की गुणवत्ता असन्दिग्ध है। काव्यात्मक सौन्दर्य के सन्दर्भ में वेदों के मूल्याङ्कन की प्रक्रिया निरुक्त के प्रारम्भ में ही दिखलाई देती है। वेद और काव्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दोनों का अस्तित्त्व अलग-अलग है। ऋषि और कवि दोनों एक व्यक्ति नहीं हैं, दोनों का व्यक्तित्व भिन्न है। क्योंकि ऋषि के दर्शन शक्ति और कवि के वर्णना शक्ति में परस्पर अन्तर प्राप्त होता है। एक शब्द प्रधान प्रभुसम्मित है तो दूसरा रस के अङ्गभूत व्यञ्जना-व्यापार की प्रवणता से विलक्षण, उसमें लोकोत्तर वर्णना विद्यमान है। वह कान्तासम्मित है।[२] इस प्रकार वेद और काव्य के विषय में पार्थक्य दिखलाया गया है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने प्रतीत होता है कि यह किसी कारणवश किया गया है, वस्तुतः दोनों में पृथग्भाव

---

[१] **सहाचार्य, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग, इलाहाबाद विवि, प्रयागराज**

[२] प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म। **(काव्यप्रकाश १/२ की वृत्ति।)**

नहीं है।[३] वेद जहाँ एक ओर प्रभुवत् प्रवर्तना और निवर्तना करते हैं, वहाँ सुहृत् के समान हितकारी उपदेश भी देते हैं, यथा-

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।[४]

इसके अतिरिक्त कान्ता के समान अत्यन्त सरस उपदेश भी वेदों में प्राप्त ही होता है। जैसे-

उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।[५]

अर्थात् (उत उ) निश्चित रूप से (त्वस्मै) इस वेद-वाणी को समझने वाले पुरुष के लिए (तन्वं वि संस्रे) अपने स्वरूप को खोलकर रख देती है। (इव) जैसे (उशती) कामना करती हुई (सुवासाः) सुगन्धित उत्तम वस्त्रों से अलङ्कृत (जाया) पत्नी, (पत्ये) पति के सामने अपने स्वरूप को खोलकर रख देती है। यहाँ वेद के कान्तासम्मितत्व की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की वैदिक उपजीव्यता को उद्घाटित करते हुए कहा है-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥[६]

अर्थात् ऋग्वेद से संवादों का, सामवेद से गान का, यजुर्वेद से अभिनयों का तथा अथर्वेद से रसों का ग्रहण करके नाट्यवेद का निर्माण किया गया। इस प्रकार नाट्यवेद की धारणा से वेद में भी काव्य के

---

[३]. अथर्ववेद एक साहित्यिक अध्ययन, (डॉ. मातृदत्त त्रिवेदी) पृ. सं. ०१

[४]. अथर्ववेद ३.३०.१

[५] ऋग्वेद १०.७१.४

[६] नाट्यशास्त्र १.१७

विद्यमान रहने का द्योतन होता है। क्योंकि नाट्य भी काव्य है। कहा भी गया है- **काव्येषु नाटकं रम्यम्।**

इस प्रकार इन तथ्यों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में वेद और काव्य का पूर्णतः पार्थक्य नहीं था। जैसा कि आलङ्कारिक युग में द्रष्टव्य होता है। आलङ्कारिक युग में राजशेखर ऐसे आलङ्कारिक आचार्य हैं, जिन्होंने यह सङ्केत किया है कि वेद में भी काव्य हो सकता है। राजशेखर ने अलङ्कार को सप्तम अङ्ग मानकर एक प्रकार से वेदाङ्गों में सम्मिलित किया है और वेद मन्त्रों के बोधन में उसकी उपयोगिता बताई है- **'शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचितः, ज्योतिषं च षडङ्गानि' इत्याचार्याः। 'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः।**[७] इसके प्रमाण रूप में राजशेखर ने ऋग्वेद का मन्त्र प्रस्तुत किया है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥[८]

इस मन्त्र में रूपक अलङ्कार के आश्रय से एक ही शरीर में अवस्थित आत्मा (जीव) तथा परमात्मा का वर्णन किया गया है। इस अवस्थिति को वृक्ष तथा पक्षी आदि वस्तुओं के द्वारा समझाया गया है। यहाँ राजशेखर का अभिप्राय है कि अन्य वेदाङ्गों की भाँति अलङ्कार भी वेदार्थावगम के साधक हैं अतः वह सातवां अङ्ग है। पूर्वार्ध में रूपक[९] तथा उत्तरार्ध मे व्यतिरेक[१०] अलङ्कार है। राजशेखर ने साहित्य अथवा काव्य

---

[७]. काव्यमीमांसा द्वितीय अध्याय (शास्त्रनिर्देश) पृ. सं. ५

[८]. ऋग्वेद १.१६४.२०

[९]. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। काव्यप्रकाश दशम उल्लास– आ. विश्वेश्वर सिद्धान्तसिरोमणि, पृ.सं. ४६३

[१०]. उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः। काव्यप्रकाश दशम उल्लास– आ. विश्वेश्वर

को विद्या माना है और चारों विद्याओं का निष्यन्द कहा है- **पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दनः।**[११]

इस प्रकार राजशेखर के अनुसार वेदशास्त्र आदि में भी काव्य हो सकता है। यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

वैदिक काव्य में शब्द की शक्तियाँ -

वैदिक काव्य को शास्त्रकारों ने सामान्यतः शब्दप्रधान कहा है- इसके अनुसार इसमें अभिधा की प्रधानता है। लेकिन काव्य में अभिधा का विशेष महत्त्व नहीं है, इसलिए ऋषि-कवि ने वेद में भी लक्षणा का आश्रय स्थान-स्थान पर लिया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान लाक्षणिक प्रवृत्ति को तो निरुक्तकार यास्क तक ने इङ्गित किया है- **'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि'** (७.२४)। अभिप्राय यह कि ब्राह्मणों ने देवों के विषय में भक्ति अथवा गुण-कल्पना के माध्यम से बहुविध तात्त्विक अन्वेषण किया है। अर्थवाद के तीन भेद हैं- गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। इनमें से गुणवाद लक्षणा के अत्यन्त निकट है। परवर्ती मीमांसकों और काव्यशास्त्र के आचार्यों ने दोनों को एक ही मानकर विवेचन किया है। गुणवाद के सन्दर्भ में प्राप्य वैदिक उदाहरण इस प्रकार हैं- **'स्तेनं मनः', 'आदित्यो यूपः', 'श्रृणोत ग्रावाणः'** इत्यादि।[१२] इनकी सीधे-सीधे अभिधाशक्ति के द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती। 'पत्थर सुनें!' यह कथन आपाततः उन्मत्तप्रलाप सदृश लगता है- यदि केवल

सिद्धान्तसिरोमणि, पृ.सं. ४९१

[११] काव्यमीमांसा द्वितीय अध्याय (शास्त्रनिर्देश) पृ. सं. ८

[१२] वैदिक साहित्य और संस्कृति का समीक्षात्मक इतिहास, प्रो. ओम् प्रकाश पाण्डेय। पृ. सं. २७६

अभिधा पर निर्भर रहा जाये तो। इसी कारण ऐसे वाक्यों में मीमांसकों ने लक्षणा का आश्रय लिया है, जिसका प्रयोजन प्रातरनुवाक की मार्मिकता का द्योतन है। जिस प्रातरनुवाक को पत्थर भी तन्मयता से सुनते हैं, फिर विद्वानों और सहृदयों की बात ही क्या। नदी की स्तुति के सन्दर्भ में प्राप्त विशेषणों-चक्रवाकस्तनी, हंस-दन्तावली, काशवस्त्रा और शैवालकेशिनी की व्याख्या शाबरभाष्य में भी लाक्षणिक दृष्टि से की गई है। उनका कथन है- **'असतोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्य अर्थस्य उक्तिर्द्रष्टव्या'** (ऋग्भाष्यभूमिका में सायण के द्वारा उद्धृत)।

साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में, लक्षणा निरूपण के प्रसङ्ग में आचार्यों ने इसीलिए 'सिंहो माणवकः', 'गौर्वाहीकः' प्रभृति लौकिक उदाहरणों के साथ ही 'यजमानः प्रस्तरः', 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वैदिक उदाहरण उन्मुक्तता से दिये हैं। भोजराज ने तो एक पग आगे बढ़कर अर्थवादात्मक लाक्षणिक प्रयोगों में निहित काव्यात्मक चारुता को भी वचन-वक्रता के रूप में पहचानने की चेष्टा की है- **वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति श्रुतिः** - (शृङ्गारप्रकाश)।

जहाँ तक व्यञ्जना की बात है, वैदिक काव्य में उसके अस्तित्व को मीमांसकों ने मान्यता नहीं दी है।[१३]

अथर्ववेद के ऋषिकवियों की मधुर ध्वनि-प्रियता का यह आशय नहीं कि उन्होंने विषय और भाव की उपेक्षा कर सर्वत्र इसी प्रकार के वर्ण-विन्यास को अभीष्ट माना। उन्होंने सदैव विषय के औचित्य को दृष्टि में रखकर शब्द-सङ्घटना की है। जहाँ उन्होंने देखा कि विषय मधुर ध्वनि के अनुकूल नहीं, वहाँ उनका वर्णविन्यास एक दूसरे ही प्रकार का देखा

---

[१३] वही पृ. सं. २७७

जाता है। आनन्दवर्धन ने अलङ्कारों के विषय में जो बात (**रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्**- ध्वन्यालोक २.६) इस रूप में कही है, वही विषय भाव आदि के अनुरूप शब्दयोजना में भी देखी जाती है। जहाँ ऋषियों ने देखा विषय कठोर ध्वनि के अनुरूप है, वहाँ उनकी शब्दयोजना भी तदनुरूप ही हुई है जैसा कि निम्न मन्त्रों में देखते हैं-

तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृहतु।[१४]

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरुरुमतृहम्।

अगण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि[१५]।

रस निष्पत्ति और भाव चित्रण-

कवि के भावों की अभिव्यक्ति को ही कविता कहा जाता है। कवि कोई भी हो वह अपने भावों को अवश्य ही अभिव्यक्त करता है। उसके भाव आक्षिप्त हृदय की अभिव्यक्ति ही कविता का रूप धारण कर लेती है। वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के कवियों ने अपने भावों को काव्यात्मक शैली में अभिव्यक्त किया है। संस्कृत के काव्य जहाँ रति आदि भाव विभावादि से व्यञ्जित पाये जाते हैं, वहाँ रसवादियों के अनुसार शृङ्गारादि रसों की निष्पत्ति देखी जाती है, परन्तु वेद काव्य में भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट रसनिरूपण की प्रक्रिया के अनुसार रस की निष्पत्ति नहीं देखी जाती है। भावों का रुचिर निरूपण अवश्य देखने को मिलता है।

रतिभाव-

भाव-चित्रण की झलक अथर्ववेद के स्मरसूक्त में प्राप्त होती है। जहाँ यह कहा गया है कि देवता लोग काम को इसलिए भेजें जिससे यह

---

[१४] अथर्ववेद ६.६९.३

[१५] वही २.३१.२

कामार्ता स्त्री, मेरा प्रेमी सदैव मेरा स्मरण करता रहे, इस प्रकार कामना करती हुई सदैव परितप्त रहे और मेरा ही ध्यान करती रहे।

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥[१६]

प्रायः प्रेमिकाओं की यही अभिलाषा रहती है कि उनका प्रेमी तो कामार्त होकर उन्हें सदैव स्मरण करता रहे, लेकिन वे उसका स्मरण न करें अथवा उनका मान भङ्ग न होने पाए, अपितु वे मन से उसका अहर्निश चिन्तन करते हुए भी बाह्य रूप में लोगों को यह दिखायें कि वे तो उस व्यक्ति का स्मरण ही नहीं करतीं। इस भाव का भी चित्रण इस मन्त्रसूक्ति में किया गया है-

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदाचन।
देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥[१७]

क्रोध-

अथर्ववेद के मन्युसूक्तों में क्रोध के भाव स्पष्ट दिखलाई देते हैं। वैसे देखा जाय तो मन्यु क्रोध का ही अभिमानी देवता है यतः उस देव का यत्र-तत्र ऐसा वर्णन है जिसमें क्रोध का स्पष्ट आभास दिखाई पड़ता है। उदाहरण के रूप में हम इस मन्त्र को ले सकते हैं, जिसमें यह कहा गया है- "हे क्रोधाभिमानिन् मन्युदेव! तुम अग्नि के समान प्रज्वलित होकर हमारे शत्रुओं को नष्ट कर दो। हे सहनशील! सङ्ग्राम में आहत होने पर तुम हमारे सेनानी बन जावो। शत्रुओं को मार कर तुम उनका धन हमें दो तथा हमें ऐसी शक्ति प्रदान करो, जिससे हमारे शत्रु अभिभूत हो जायें"।

---

१६. वही ६.१३०.२

१७. अथर्ववेद ६.१३०.४

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व॥[१८]

इस प्रकार ऋग्वेद और अथर्ववेद में आये हुये दोनों मन्युसूक्तों में क्रोधभाव का चित्रण किया गया है। आगे चलकर संस्कृत काव्य में यही क्रोध का भाव विभावादि से व्यञ्जित होकर रौद्ररस के रूप में चर्वणीय होता है।

भय-

इसी प्रकार के भय के भाव का चित्रण अथर्ववेद के पर्जन्यसूक्त की कतिपय ऋचाओं में किया गया है, जहाँ यह कहा गया है- "वायुवेग से दिशायें उत्पतन-सा करने लगें। आकाश में अभ्रखण्ड, वायु से प्रेरित होकर इतस्ततः सञ्चार करने लगें तथा रेत सिञ्चन करने में समर्थ मदोन्मत्त वृषभ की भाँति मेघ गर्जन करते तथा जल बरसाते हुये पृथ्वी को तृप्त करें। इतना ही नहीं, वे अजगर के समान स्थूल जलधाराओं से पृथ्वी को तृप्त करते रहें। वायु के द्वारा प्रच्युत मेघ पृथ्वी पर वृष्टि करें तथा प्रत्येक दिशा विद्युत्प्रकाश से चमक उठें और दशों दिशाओं को व्याप्त करती हुई वायु प्रवाहित होने लगे"-

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः वर्षन्तु पृथिवीमनु॥
आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशो दिशः।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु॥[१९]

इसी प्रकार उत्साह और मद भी प्राप्त होता है।

---

[१८] वही ४.३१.२

[१९] वही ४.१५.७-८

अथर्ववेद में छन्द योजना-

यद्यपि सभी वेदों में छन्द का अपना महत्त्व है, लेकिन विचार करने पर अथर्ववेद में उसका कुछ अधिक महत्त्व प्रतीत होता है। सर्वप्रथम इसी वेद में सातों छन्दों का एक मन्त्र में क्रम से वर्णन हुआ है- **गायत्र्युष्णिगनुष्टुब् बृहती पंक्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यै।**[२०] यद्यपि यजुर्वेद में अथर्ववेद के समान सातों छन्दों का उल्लेख हुआ है, परन्तु वहाँ इस प्रकार एक ही ऋचा में इनका नाम और क्रम नहीं बतलाया गया।

गायत्री-

अथर्ववेद के २०वें काण्ड में गायत्री छन्द का अत्यधिक प्रयोग हुआ है और वहाँ अग्नि देवता के स्थान पर इन्द्र की स्तुति इस छन्द में की गई है। लेकिन अधिकांश सूक्त ऋग्वेद से लिए गए हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के समय में भी छन्द का देवता के साथ सम्बन्ध शिथिल होने लगा था। यह इन्द्र की स्तुतियाँ प्रायः विशुद्ध गायत्री छन्द में है, जैसा कि निम्नोद्धृत ऋचाओं से स्पष्ट होता है-

इन्द्र त्वां वृषभं वयं सते सोमे हवामहे। स पाहि मध्वो अन्धसः॥[२१]

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते। क्षयं चन्द्रास इन्दवः॥[२२]

उष्णिक्-

उष्णिक् छन्द का महत्त्व अथर्ववेद में बहुत कम है। गायत्री छन्द की भाँति इस छन्द का भी अपना वैशिष्ट्य है, वह यह है कि शङ्कुमती उष्णिक् जिसका अथर्ववेद में तीन स्थलों पर प्रयोग हुआ है[२३] जबकि

---

२०. अथर्ववेद १९.२१.१

२१. वही २०.६.१

२२. वही २०.६.४

२३. वही ७.१३१.२, १८.४.८७, १९.४४.४

ऋग्वेद में इसका प्रयोग कहीं नहीं हुआ है।[२४]

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धो सूनुः सत्यस्य युवानम्।
अद्रोघ वाचं सुशेवम्॥[२५]

उक्त मन्त्र पुर उष्णिक् छन्द है। ऋषि ने यहाँ पर अत्यन्त कुशलतापूर्वक सविता की स्तुति में अपने भाव व्यक्त किये हैं, मानो वह ऋग्वेद का कवि हो।

अनुष्टुप्-

अनुष्टुप् छन्द एक प्रकार से गायत्री छन्द का ही विकसित रूप है, क्योंकि गायत्री छन्द में ही एक पाद और जुड़ जाता है। यास्काचार्य **'अनुष्टुप् अनुष्टोभनात्'**[२६] इस निरुक्ति के साथ-साथ **"गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीति च ब्राह्मणम्"** इस ब्राह्मण वचन के द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय करा देते हैं। अथर्ववेद में इस छन्द का विशेष महत्त्व इसलिए है कि सभी छन्दों में इसकी संख्या सर्वाधिक है। साहित्यिक विकास के साथ-साथ यह छन्द और भी अधिक ग्राह्य हो जाता है क्योंकि रामायण और महाभारतकाल में इसका प्रयोग इतना अधिक हुआ है जितना किसी अन्य का नहीं। अथर्ववेद में इसकी संख्या की अधिकता और रामायण तथा महाभारत में इसका चरमोत्कर्ष इस बात की सूचना दे देता है कि अथर्ववेद की साहित्यिक परम्पराओं के साथ-साथ यह छन्द भी विकास को प्राप्त हो इस युग में आया। अथर्ववेदीय अनुष्टुप् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह ऋग्वेदीय अनुष्टुप् की अपेक्षा लौकिक अनुष्टुप् के अधिक निकट है। यथा-

---

२४. अथर्ववेद एक साहित्यिक अध्ययन, (डॉ. मातृदत्त त्रिवेदी) पृ. सं. ८१

२५. अथर्ववेद ६.१.२

२६. निरुक्त ७.१२

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥[२७]

इसी प्रकार बृहती, पङ्क्ति एवं जगती आदि छन्दों का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

अथर्ववेद में अलङ्कारों का महत्त्व-

यद्यपि वैदिक ऋषि आलङ्कारिकों द्वारा निर्दिष्ट किये गये अलङ्कारों से परिचित नहीं थे, किन्तु वे अलङ्कार शब्द और उसके कार्य से भली-भाँति परिचित थे। **उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।**[२८] इत्यादि ऋचाओं में 'सुवासाः' शब्द का प्रयोग करके अलङ्कारों की ओर ध्यानाकर्षण करा दिया गया है। जिस प्रकार सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित और अलङ्कृत स्त्री भी अधिक शोभायमान होती है तथा पति के चित्त को आह्लादित करती है, उसी प्रकार कविता-सुन्दरी भी अलङ्कृत होने पर अत्यधिक सुन्दर और हृदयग्राह्य होती है। अलङ्कार की दृष्टि से अथर्ववेद में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों प्राप्त होते हैं।

अनुप्रास-

अथर्ववेद में वर्णावृत्ति तथा पदावृत्ति के साथ-साथ पादावृत्ति भी प्राप्त होती है। पादावृत्ति से मन्त्र का लयात्मक सौन्दर्य बढ़ जाता है। वर्ण तथा पद की आवृत्ति में अलङ्कारों की मूलभूतता विद्यमान है। वर्णावृत्ति में छेक, वृत्यानुप्रास आदि तथा यमक की एवं पदावृत्ति में लाटानुप्रास की

---

२७. अथर्ववेद १.३४.२-३

२८. ऋग्वेद १०.७१.४

चारुता देखी जाती है। छेकादि अनुप्रासों की छटा अधोलिखित मन्त्रों में दर्शनीय है-

विमन्युमिन्द्र बृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः।[२९]

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति॥[३०]

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशो दिशः॥[३१]

यमक-

अथर्ववेद में यत्र-तत्र यमक की छटा विद्यमान है। अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों का उसी क्रम से पुनः श्रवण यमक नामक अलङ्कार कहलाता है।[३२] आलङ्कारिकों ने यमक अलङ्कार के **'मुख', 'सन्दंश', 'आवृत्ति', 'गर्भ', 'संदष्टक', 'पुच्छ', 'पङ्क्ति', 'परिवृत्ति', 'युग्मक', 'समुद्गक' तथा 'महायमक'** इत्यादि अनेक भेद बताये हैं। ये सब भेद अथर्ववेद में नहीं प्राप्त होते हैं, परन्तु अनेक मन्त्रों में इस अलङ्कार की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। यथा-

सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः।[३३]

अधशंसदुः शंसाभ्यां करेणानुकरेण च।[३४]

इस प्रकार अथर्ववेद में शब्दालङ्कार की छटा देखी जा सकती है। यह अलङ्कार वेदकाव्य के शरीर का सौन्दर्यवर्धन करते हैं।

उपमा-

अर्थालङ्कारों में उपमा का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आचार्य

---

२९. अथर्ववेद १.२१.३

३०. वही ६.१२२.२

३१. वही ४.१५.८

३२. अर्थे सत्यर्थ भिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। काव्यप्रकाश सूत्र सं. ११६

३३. अथर्ववेद ११.१०.२४

३४. वही १२.२.२

मम्मट ने उपमा अलङ्कार की परिभाषा देते हुए कहा है- उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा कहलाता है।[३५] वामन ने प्रतिवस्तूपमा प्रभृति अनेक अलङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च बताया है।[३६] आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा है- **'उपमाप्रपञ्चश्च सर्वोऽलङ्कार इति विद्वद्भिः प्रतिपन्नमेव।'**[३७] वेदों में स्वयं सादृश्यार्थ में उपमा का प्रयोग हुआ है। यह सम्भव है कि उपमा नामक अलङ्कार उनके मस्तिष्क में न रहा हो, परन्तु इसका जो कार्य है, उससे वे सुपरिचित थे। वैदिक ऋषि उपमा, उपमान तथा न, इव, चित्, नु, वत्, तुल्य, यथा और वा आदि वाचक शब्दों से परिचित थे। उपमा के माध्यम से कवियों को अपने भावों को प्रकाशित करने में अत्यन्त सरलता होती है। वह बड़ी ही सरलता से इसके माध्यम से पाठकों के सामने चित्र सा उपस्थित कर देता है। यथा-

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥[३८]
सात्रासाहस्याहं मन्योरवज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामिरथाँ इव।[३९]
अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान्।
या आक्षियन् पृथिवीं यादजायत॥[४०]

रूपक-

रूपक में उपमेय और उपमान का अभेद पाया जाता है। इसमें

---

[३५] साधर्म्यमुपमा भेदे। काव्यप्रकाश सूत्र सं. १२४

[३६] प्रतिवस्तुप्रभृतिरूपमाप्रपञ्चः। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४.३.१

[३७] अभिनवभारती पृष्ठ ३२१

[३८] अथर्ववेद १.१.३

[३९] वही ५.१३.६

[४०] वही १२.१.५७

उपमेय और उपमान के आरोप से केवल एक ही चित्र की प्रधानता रहती है इसमें दोनों चित्रों की एकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है। अथर्ववेद में इस अलङ्कार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। रूपक का दर्शन हमें एक ओदन-सूक्त में होता है।

तस्योदनस्य वृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥

द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्त ऋषयः प्राणापानाः ॥[४१]

छोटे-छोटे रूपकों में कुछ देवताओं के विशेषण उल्लेखनीय हैं। उदाहरणतः अग्नि के '**घृतप्रतीक**', '**घृतपृष्ठ**', तथा '**अयोदष्ट्र**' एवं पर्वत के '**सोमपृष्ठ**' आदि विशेषण छोटे रूपकों के सुन्दर उदाहरण हैं।

उत्प्रेक्षा-

अथर्ववेद में उत्प्रेक्षा अलङ्कार की भी छटा दर्शनीय है। इसमें उपमान के द्वारा उपमेय की प्रतीति का निगरण हो जाता है और उपमेय की समान-उपमान के साथ एक रूप में सम्भावना होने लगती है। काव्यप्रकाशकार ने कहा है- '**सम्भावनामथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।**'[४२] निम्नलिखित मन्त्र में सूर्य और चन्द्र की अन्तरिक्ष में क्रीड़ा करते हुए दो शिशुओं की कल्पना की गयी है-

पूर्वापरं चरतो माययेतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।

विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥[४३]

उच्चापतन्तन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ॥[४४]

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णम्।[४५]

---

४१. वही ११.३.१

४२. काव्यप्रकाश सूत्र सं. १३६

४३. अथर्ववेद ७.८१.१

४४. अथर्ववेद १३.२.३६

अतिशयोक्ति-

अतिशयोक्ति अलङ्कार में उपमान के द्वारा उपमेय के स्वरूप का निगरण कर लिया जाता है। उत्प्रेक्षा की भाँति इसमें कवि की कल्पना का विशेष महत्त्व होता है, परन्तु यहाँ कल्पना लोक-प्रसिद्धि का अतिक्रमण करती हुई प्रतीत होती है। पुरुष सूक्त में जब हम सहस्र शिर वाले, सहस्र नेत्र वाले तथा सहस्र पैर वाले पुरुष का वर्णन देखते हैं, तो वहाँ कवि की उक्ति एक प्रकार से लोकातीत प्रतीति होती है। ऐसा होने में वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार स्पष्टतः प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में जहाँ सहस्रशृङ्गों वाले वृषभ का वर्णन है, जो समुद्र से उत्पन्न होता है-

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रदुदाचरत्।
तेना सहस्येऽना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि॥[४६]
ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकाराारसं विषम्॥[४७]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अथर्ववेद का काव्यशास्त्रीय अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसमें काव्यशास्त्र के समस्त तत्त्व जैसे- काव्य की शब्द शक्तियाँ, रस निष्पत्ति और भाव चित्रण, रस, स्थायी भाव, छन्द, शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार विद्यमान हैं।

---

[४५] वही १३.२.३७

[४६] वही ४.५.१

[४७] वही ४.६.१

अथर्ववेद में विष-चिकित्सा

डॉ. सुमित कुमार[1]

विष-प्रभाव के निवारण, प्रतिकार और नष्ट करने के उपायों को विष चिकित्सा कहते हैं। विष शब्द की व्युत्पत्ति ''विष+क'' के संयोग से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- जहर या हलाहल। अष्टाङ्गहृदय में तीन प्रकार के विष का वर्णन प्राप्त होता है। फल-फूल आदि कन्दों में मिलने वाला विष स्थावर। सर्प, बिच्छू, मकड़ी आदि की दाढ़ों में रहने वाला विष जङ्गम विष होता है। ये दोनों विष अकृत्रिम होते हैं। इसका तीसरा भेद चर कहलाता है, जो विभिन्न ओषधियों से बनाया जाता है, वह विष कृत्रिम होता हैं। यह अपने तीक्ष्ण गुणों के कारण ओज को नष्ट करता है और वात-पित्त प्रधान होने से जीवन को भी नष्ट करता है। अथर्ववेद में सोमरस का विषनाशन के रूप में वर्णन प्राप्त होता है और कहा गया है कि- सोमरस विषनाशक, रोगनाशक और शरीरविकार नाशक होता है-

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकार रसं विषम्॥[2]

---

[1] **सहाचार्य, संस्कृत विभाग, गोविन्दबल्लभ पन्त स्नातकोत्तर महावि. कछला, बदायूं**

[2] अथर्ववेद ४.६.१

और इससे आगे द्वितीय मन्त्र में कहा है कि- जितने विस्तार तक द्युलोक, पृथिवीलोक और सप्तसिन्धु फैले हैं, उतने विस्तार तक के विष को दूर करने के लिए मन्त्रात्मक शक्ति (वाणी) का प्रयोग करें। यहाँ पर मन्त्रशक्ति से विष को दूर करने का उपाय बताया है –

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम्॥[३]

अथर्ववेद में सर्पविष प्रसङ्ग में कहा है कि जैसे गरुड़, मोर आदि पक्षी अपनी विषपाचक शक्ति से विषधारी सर्प को खाकर अपना शरीर पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार सद्वैद्य ओषधि द्वारा विषजनक रोगों का नाश करके संसार में नीरोगता फैलाते हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार गरुड़ आदि पक्षियों के पाचन तन्त्र पर विष का प्रभाव नहीं होता है, उसी प्रकार की कोई प्रविधि हमारे ऋषि-मुनि जानते थे जिससे हमारे पाचन तन्त्र पर विष का प्रभाव नही होता होगा।[४]

अथर्ववेद में ऋषि कहता है कि यदि शत्रु अपने छल बल से युद्ध में विषैले बाणों के प्रयोग से किसी वीर मनुष्य के शरीर में विष प्रवेश करा दे, तब चतुर वैद्य अभिमन्त्रित ओषधि से विष प्रभाव को दूर कर दे। अर्थात् हमारे ऋषि-मुनि इस प्रकार के विष को दूर करने कि विधि को जानते थे।[५]

अथर्ववेद में – शाल्यत् (शल्य प्रक्रिया द्वारा), प्राञ्जनात् (लेप

---

[३] अथर्ववेद ४.६.२

[४] सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विष प्रथममावयत्।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः॥ अथर्ववेद ४.६.३

[५] यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम्॥ अथर्ववेद ४.६.४

द्वारा) पर्णधेः (पत्ते या पंख के तीर वाले भाग से), (अपाष्ठात्) नुकीले उपकरण से और (कुल्मलात्) कुलाल नामक ओषधि से विष दूर करने की विभिन्न विधियों की जानकारी मिलती है।[६]

अथर्ववेद के मन्त्रों में (अपीषन्) विष को पीसने वाले, (अदिहन्) विष का लेपन करने वाले, (आस्यन्) बाण आदि से विष को फेकने वाले, (अवासृजन्) जल, अन्न आदि में विष को मिलाने वाले, इन सब को मन्त्र शक्ति के द्वारा निष्क्रिय कर देने का प्रावधान है। मन्त्रशक्ति से (विषगिरिः) विषपर्वत को भी विष रहित करने का उल्लेख प्राप्त होता है -

ये अपीषन्ये अदिहन्य आस्यन्ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः॥
वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम्॥[७]

अथर्ववेद में वरणावती या वरण को विषनाशक कहा गया है। वरणवृक्षों की अधिकता के कारण नदी का नाम वरणावती हो गया। वरणवृक्ष जल में विषनाशक शक्ति उत्पन्न कर देता है। इसलिए घर और जल वाले स्थानों के आसपास वरणवृक्षों का रोपण करना चाहिए। ज्वर, क्षय, जैसे विविध रोगों को दूर करने के लिए इसकी माला गले में बाँधने का विधान है।[८]

---

[६] शल्याद्विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः।
अपाष्ठाच्छृङ्गात्कुल्मलान्निरवोचमहं विषम्॥ अथर्ववेद ६.४.५

[७] अथर्ववेद ४.६.७-८

[८] वारिदम्वारयातै वरणावत्यामधि।
तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम्॥ अथर्ववेद ४.७.१

अथर्ववेद में ऋषि विष और विष जनित रोगों का करम्भ विधि (जलसेचन से अथवा दही मिले जौ के सत्तू के प्रयोग से) से चिकित्सा करने के विषय में कहता है। करम्भ के सेवन से शरीर की अनावश्यक चरबी नष्ट हो जाती है। इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होता है और शरीर के सभी विषैले प्रभाव दूर हो जाते हैं–

अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम्।
अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते॥
करम्भं कृत्वा तिर्यं पीबस्पाकमुदारथिम्।
क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः॥[९]

अथर्ववेद में ऋषि वच नामक ओषधि के विषय में बताता है कि जैसे उबलते हुए तण्डुलों (चावलों) में गर्मी होती है, उसी प्रकार विष से शरीर में एक विचित्र-सी गर्मी पैदा होती है, जिसको वच नामक ओषधि से दूर किया जा सकता है। वच ओषधि सर्पविष को ऐसे ही दूर फेंक देती है, जैसे धनुष से बाण को दूर फेंका जाता है। अर्थात् वच ओषधि (मन्त्र शक्ति) से शरीर में शीतलता स्थापित होती है, जिससे शरीर में विष (मदावती) का प्रभाव नही फैलता।[१०]

अथर्ववेद में कहा है कि अगर छल से किसी ने विष दे दिया हो तो विष को वरणवृक्ष के रसयुक्त जल से, दधिमिश्रित सत्तुओं से और वच के प्रयोग से दूर करना चाहिए।[११]

---

[९] अथर्ववेद ४.७.२

[१०] वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि।
प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि॥ अथर्ववेद ४.७.४

[११] अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे॥ अथर्ववेद ४.७.७

अथर्ववेद में सर्पविष प्रभाव को रोकने के विषय में कहा है कि साँप के काटने वाले स्थान से ४,८,१२ अंगुल ऊपर तीन बन्धन लगाने चाहिए, इससे सर्पविष नाड़ियों में जहाँ-तहाँ जाने से रुक जाता है और यह शरीर के उत्तम, मध्यम और अधम भागों में नहीं फैलता और जिस स्थान पर साँप ने काटा है, उस स्थान को चाकू से काटकर वहाँ से खून दबाकर निकाल दें और उस स्थान को गर्म लौह आदि से जला दें। चूसना, काटना और जलाना ये सभी उपाय सापों के काटने में उपयोगी हैं।[१२]

अथर्ववेद में वाद्ययन्त्र अर्थात् ढ़ोल, नगाड़ा आदि के तीव्र स्वर के द्वारा भी सर्पविषनाशन का उल्लेख मिलता है। यह सर्पदष्टा को मूर्छा में चले जाने से बचाता है। चिकित्सक अन्य मनुष्यों के साथ सर्पविष के भय को दूर करने का प्रयत्न करता है तथा सर्पदष्ट मनुष्य के जीवन से मूर्छान्धिकार को दूर करके जीवन के सूर्य को उदित करता है।[१३]

अथर्ववेद में सर्प विष से ही सर्पविष को काटने का उपाय बताते हुए कहा है –

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम्॥[१४]

अर्थात् साँप की आँखों में आँख गड़ाकर उसे देखा जाए तो वह डसता नहीं।

अथर्ववेद में स्वच्छता के महत्त्व को बताते कहा है कि हम घर तथा चारों ओर के प्रदेशों को इस प्रकार स्वच्छ रखें कि वहाँ सर्प आदि का भय

---

[१२] यत्ते अपोदकं विषं तत्त एतास्वग्रभम्।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते॥ अथर्व ५.१३.२

[१३] वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः॥ अथर्व ५.१३.३

[१४] अथर्ववेद ५.१३.४

न हो। ये सर्प हमारे घरों से दूर ही रहें –

कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः।

मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम्॥[१५]

अथर्ववेद में साही के द्वारा विषधर जीवों के विष को प्रभावहीन करने की बात कही है। सम्भवतः बिल बनाकर रहने वाले इन कृमियों का विष उसी बिल से निकली मिट्टी के प्रयोग से दूर हो जाता हो।[१६]

अथर्ववेद में ताबुव और तस्तुव ओषधियों को सर्पविष नाशक बताया है। ताबुव और तस्तुव ओषधियों के जो गुण बताए गए हैं, वे कटुतुम्बी (कड़वी लौकी) और तिक्त कोशातकी (कड़वी तोरई) में पाए जाते हैं। भावप्रकाश निघण्टु में कटुतुम्बी (कड़वी लौकी) को कड़वी, विषनाशक, ठंडी और हृदय को शक्ति देने वाला बताया गया है। राजनिघण्टु आदि में इसको वमनकारक वाली कहा गया है। यह उल्टी के द्वारा विष के प्रभाव को बाहर निकाल देती है, अतः सर्पविषनाशक कही जाती है। कामरत्न ग्रन्थ में कहा गया है कि कटुतुम्बी (कड़वी लौकी) की बारीक जड़ को गोमूत्र में पीसकर वटी या गोली बना लें और उसको छाया में सुखा लें। फिर उसको गोमूत्र आदि के साथ घिसकर एक हाथ भर लेप करने से सर्पविष का नाश हो जाता है। सपेरे कटुतुम्बी की वीणा (बीन) रखते हैं। इसका कारण यह संभव है कि कटुतुम्बी सर्पविषनाशक है और इसके अन्दर से निकलने वाली ध्वनि सर्प को अपने वश में कर लेती है।[१७]

---

[१५] अथर्ववेद ५.१३.५

[१६] कर्णा श्वावित्तदब्रवीद्गिरेरवचरन्तिका।

याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम्॥ अथर्ववेद ५.१३.९

[१७] ताबुवं न ताबुवं न घेत्त्वमसि ताबुवम्। ताबुवेनारसं विषम्॥ अथर्ववेद ५.१३.१०

तस्तुव ओषधि के जो गुण बताए गए हैं, वे तिक्त कोशातकी (कड़वी तोरई) के गुणों से मिलते है। कामरत्न ग्रन्थ के सर्पविष चिकित्सा अध्याय में वर्णन है कि एक कड़वी तोरई के काठे को शहद और घी के साथ मिलाकर पिलाने से उल्टी हो जाती है और इस प्रकार विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है। निघण्टु ग्रन्थों में भी कड़वी तोरई को विषनाशक कहा गया है। सुश्रुत का भी कथन है कि सर्पदेश की अवस्था में तुरन्त मदनफल (मैनफल), कटुतुम्बी (कड़वी तुम्बी या लौकी), कड़वी तोरई आदि फलों से वमन करावे।[१८]

अथर्ववेद में शीपाला (ओषधि विशेष या नदी विशेष) और परुष्णी (ओषधि विशेष या नदी विशेष) से सर्पविष को दूर करने का उल्लेख मिलता है। सर्पविष निवारण के लिए नदियों के किनारे, पर्वतों व मेघवृष्टि वाले स्थलों पर इन सर्पविष ओषधियों के प्राप्त होने का प्रमाण मिलते हैं। यदि इन नदियों, पर्वतों के झरनों में बहुत देर तक स्नान किया जाये तो विष प्रभाव को कम किया जा सकता है।[१९]

अथर्ववेद में उपजीका (दीमक) को विषनाशक कहा है। दीमक जो मिट्टी की बांबी बनाती है, उस मिट्टी को विषनाशक कहा गया है। दीमक के मुख में एक अद्भूत शक्ति होती है। वह उसके द्वारा वायुमण्डल के अम्लजन व उद्जन को मिलाकर जल उत्पन्न कर देती है। यह जल विष की ओषधि है। जब अन्य ओषधि न मिले तब दीमकों से निकाली गई मिट्टी में दूध, घी या मधु मिलाकार पिला सकते हैं।[२०]

---

[१८] तस्तुवं न तस्तुवं न घेत्त्वमसि तस्तुवम्। तस्तुवेनारसं विषम्॥ अथर्ववेद ५.१३.११

[१९] मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे॥ अथर्ववेद ६.१२.३

[२०] यद्वो देवा उपजीका आसिञ्चन्धन्वन्युदकम्।

अथर्ववेद में मधुला, मधुजाता और मधुश्चुत् ओषधि का उल्लेख मिलता है।[२१] इसके द्वारा सर्प, बिच्छू आदि के विष प्रभाव को ख़त्म किया जा सकता है।[२२] इसको मच्छर आदि कीटों को मारने की दवा के रूप में वर्णित किया है।[२३]

मधुला नामक ओषधि शर्कोट नामक विषैले जन्तुओं के विष को नष्ट करके उस विषैले प्राणी को भी मारने में प्रयोग होती है -

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः।

विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥[२४]

अथर्ववेद में दर्भ, शोचि, तरुणक, अश्ववाल और परुषवार इन पञ्च ओषधियों को सर्पविष नाशक बताया है। इनमें दर्भ सर्पों के लिए शोकप्रद है, शोचि, तरुणक और अश्ववाल विषनाशक हैं और परुषवार विषनिवारक है।[२५]

अथर्ववेद में श्वेत नामक ओषधि को सर्पविष नाशक बताया है। धन्वन्तरि निघण्टु में सफेद अर्क या आक (मदार) को भी श्वेत का नाम दिया है और राजनिघण्टु, चरकसहिंता, सुश्रुतसहिंता और ऐन्द्रजालिक

तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥ अथर्ववेद ६.१००.२

[२१] तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम्।

तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ अथर्ववेद ७.५६.१

[२२] इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः।

सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ अथर्ववेद ७.५६.२

[२३] यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि।

अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम् ॥ अथर्ववेद ७.५६.३

[२४] अथर्ववेद,५.१३.५

[२५] दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः। रथस्य बन्धुरम् ॥ अथर्ववेद १०.४.२

कामरत्न आदि ग्रन्थों में आक के फल, फूल और जड़ को सर्पविष नाशक के रूप में वर्णित किया गया है और कहा है कि जिस प्रकार काष्ठ नदी में गिर कर प्रभाव हीन हो जाती है, उसी प्रकार श्वेत नामक ओषधि भी भयङ्कर सर्प के विष को भी प्रभावहीन कर देती है।[२६]

कुमारिका ओषधि को अथर्ववेद में सर्पविष नाशक बताया है और यह पर्वतीय स्थानों पर मिलती है-

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥[२७]

अथर्ववेद में अपराजिता ओषधि को विषनाशक कहा है। इस ओषधि को हिंदी में कोयल, विष्णुकान्ता भी कहते है। इसको सर्प और बिच्छू दोनों का विष नष्ट करने वाला कहा है। इसकी जड़ को दूध या घी के साथ देने से सर्पविष नष्ट हो जाता है।[२८]

अथर्ववेद में तौदी, धृताची और कन्या नामक ओषधि को सर्पविष नाशक कहा है। शास्त्रों में यें तीनों नाम बड़ी इलायची के प्राप्त होते है।[२९]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ही विभिन्न प्रकार के विषों के निवारण हेतु वैदिक चिकित्सकों के द्वारा विभिन्न प्रकार के उपाय विभिन्न ओषधियों के द्वारा किए जाते थे। वर्तमान समय में भी

---

[२६] अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम्॥ अथर्ववेद १०.४.३

[२७] अथर्ववेद १०.४.१४

[२८] आयमगन्युवा भिषक्पृश्निहापराजितः।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च॥ अथर्ववेद १०.४.१५

[२९] तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि।
अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम्॥ अथर्ववेद १०.४.२४

विश्व के अनेक स्थानों पर सर्पविष नष्ट करने के लिए वैदिक विधियों का प्रयोग किया जाता है, जिससे रोगी शीघ्र ही सर्पविष से मुक्त होकर स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार वैदिक विधियां वर्तमान काल में भी उपयोगी सिद्ध होती हैं।

अथर्ववेद और आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में प्राणविद्या

डॉ. अरविन्द कुमार[1]

भारतीय ज्ञान परम्परा में वैदिक साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय ज्ञान के परिचायक के रूप में वेदों के चारों भाग अपना-अपना योगदान प्रस्तुत करते हैं। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् चारों ही पाठकों के लिए विभिन्न प्रकार के आयामों को प्रदान करते हैं जो किसी भी तथ्य के गहन अध्ययन के लिए आवश्यक हैं।

यह तथ्य भी सर्वविदित है कि चारों वेदों के वर्ण्य विषय भिन्न है। ऋग्वेद जहां विभिन्न स्थानीय देवी-देवताओं की स्तुति व उपासना पर बल देता है तो यजुर्वेद वैदिक मन्त्रों के माध्यम से यजन क्रिया पर आधारित है। सामवेद जहाँ गीत्यात्मक ऋचाओं से परिपूर्ण है तो अथर्ववेद एहिक व लौकिक विद्याओं के वर्णनकर्ता के रूप में विद्यमान है।

वैदिक साहित्य में सम्पूर्ण अथर्ववेद की नौ शाखाओं का वर्णन प्राप्त होता है यथा- पैप्पलाद, तौद, मोद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवाद, देवदर्श और चारणवैद्य। परन्तु वर्तमान समय में इसकी शौनक

[१] **सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ**

शाखा ही प्रचलित है। उसी का अध्ययन प्राय: भारतवर्ष में अनेक स्थानों पर किया जाता है।

अथर्ववेद में विद्याएं-

अथर्ववेद में अनेक ऐसी विद्याओं का वर्णन है जिनको जानना विद्वानों, दार्शनिकों व जिज्ञासुओं के लिए महत्त्वपूर्ण है। भूतविद्या, राजविद्या, मधुविद्या, प्राणविद्या, सर्पविद्या आदि ऐसी अनेक विद्याएं है जिनका अध्ययन विभिन्न प्रकार से वैदिक मन्त्रों के माध्यम से किया जा सकता है।

प्राणविद्या-

इन सभी विद्याओं में से एक महत्त्वपूर्ण विद्या प्राणविद्या भी है जिसका वर्णन अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के चतुर्थ सूक्त में है तथा जिसका विश्लेषण यहाँ पर किया जाएगा।

वेदों में प्राण को मानव-जीवन के अस्तित्व के लिए आधार रूप में माना गया है। अथर्ववेद के प्राणसूक्त के प्रथम मन्त्र में भार्गव ऋषि कहते है-

प्राणाय नमो यस्यसर्वमिदं वशे।
यो भूत: सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥[२]

उस प्राण के लिए नमस्कार है जिसके वश में यह सभी चराचर जगत् है। जो सभी भूतों का आधार है और जिसके आश्रयमात्र से ही सभी कुछ स्थित है।

प्रश्नोपनिषद् में भी पिप्पलाद ऋषि बताते हैं कि आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी आदि अभिमानपूर्वक यह मानने लगे कि हमने ही इस शरीर को आश्रय दिया हुआ है।[३]

[२] अथर्व. ११/४/१

[३] वयमेतत् बाणमवष्टभ्य: विधारयाम:। प्रश्नो. २/२

तब प्राण कहता है-

मा मोहमापद्यथ। अहमेव एतत् पञ्चधा आत्मानं प्रविभज्य एतत्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। यह सुनकर उन सभी को विश्वास नहीं हुआ।[४]

तब प्राण ने अभिमानपूर्वक अपना प्रभाव दिखाया तो यदि प्राण ऊपर तो ये सभी ऊपर और प्राण नीचे तो ये सभी नीचे। ठीक उसी प्रकार जैसे रानी मक्खी जिधर जाती है उधर ही शेष सभी मक्खियां भी जाती हैं। तब प्राण की श्रेष्ठता को इन सभी ने स्वीकार किया।[५]

तब सभी ने एक साथ कहा-

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्योमघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥[६]

लौकिक जगत् में जब हम देखते हैं तो हमें हमारी इन्द्रियों की सामर्थ्य के अनुरूप सभी कुछ जड़ व चेतन के रूप में दिखाई देता है। जो मानव, जीव, पशु-पक्षी इत्यादि है और श्वसन क्रिया के माध्यम से इस लोक में जीवन यापन कर रहे हैं, उनको हम चेतन कह देते हैं और जो प्रत्यक्ष रूप से ऐसा करते हुए नहीं दिखते और स्थिररूप में बने रहते हैं उनको जड़रूप में मान लिया जाता है। जबकि आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से वास्तविकता इससे भिन्न है।

आधुनिक विज्ञान का समय उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से माना जाता है। इससे पूर्व सत्रहवीं शताब्दी तक न्यूटन आधारित विज्ञान में यह माना जाता था कि यह जगत जड़ व चेतन नामक दो प्रकार के पदार्थों से

---

[४] ते अश्रद्धधाना बभूवुः। प्रश्नो. २/३

[५] एवं वाङ्मनश्चक्षु श्रोत्रं च ते प्रीतः प्राणं स्तुवन्ति। प्रश्नो. २/४

[६] प्रश्नो. २/५

युक्त है। मशीनी तरीके से यह संसार चल रहा है और ईश्वर इस मशीन के प्रमुख मैकेनिक के रूप में है जो खराबी आने पर इस मशीन को ठीक कर देता है और पुन: मशीन अपना कार्य करने लगती है।

इसके विपरीत आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यताएं अलग थीं। अल्बर्ट आइन्स्टीन, वर्नर हाइज़नबर्ग, नील्स बोर, Geoffrey Chew (१९२४-२०१९)[७], इरविन श्रोडिन्जर आदि वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह माना कि यह जगत् चेतन तत्त्व से भिन्न जड़ रूप में न होकर एक सार्वभौमिक चेतनता (Omnijective)[८] से युक्त है। जिसको जीवों में तो प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया जा सकता है परन्तु जिन पदार्थों को हम जड़ कह देते है, उनमें वह चेतना विद्यमान नहीं है, ऐसा नहीं है। वास्तव में हमारी इन्द्रियों की उतनी क्षमता नहीं है कि वे उस चेतनता को ग्रहण कर सकें। वास्तव में इस जगत् में जड़ रूप में कुछ भी नहीं है, जिसको हम जड़ कह देते हैं वह भी चेतनता का ही एक रूप है जिसको मानव नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। एक प्राणतत्व सभी भूतों में विद्यमान है जिससे सभी का अस्तित्व बना हुआ है। उसी प्राणतत्व के विषय में अथर्ववेद का यह मन्त्र कहता है कि "यस्य सर्वमिदं वशे"। वही प्राण सभी के ऊपर शासन करता है और सब कुछ उसी में प्रतिष्ठित है-

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते प्राण स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥[९]

---

[७] प्रसिद्ध अमेरिकी सैद्धान्तिक भौतिकविद् जिनका देहान्त ९५ वर्ष की आयु में २०१९ में कैलिफोर्निया में हुआ है।

[८] इस शब्द का प्रयोग माइकल टाल्बोट ने अपनी पुस्तक "Mysticism and New Physics" में किया है जो subject व object के अपरिवर्तनीय सम्बन्ध को बताता है।

[९] अथर्व. ११/४/२

वेद में गर्जना करने वाले बादलों में भी उसी प्राण की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। वही एक प्राणशक्ति मेघ में गर्जना व नाद-शक्ति के रूप में विद्यमान है। आकाश में चमकने वाली बिजली, जिसको वेद में "उषा" के नाम से भी जाना गया है वह प्राण का ही एक रूप है। साथ ही जो बरसने वाले मेघ हैं, जो धरती पर बरसकर वनस्पतियों में पड़कर उनको विकसित व विस्तारित करते हैं वे भी प्राणशक्ति से युक्त माने गए हैं।

नमस्ते प्राण प्राणते नमोऽस्त्वपानते ॥[१०]

श्वसन में दो क्रियाओं का महत्त्व है एक प्राण अर्थात् साँस अन्दर लेना और अपान अर्थात् साँस बाहर छोड़ना। इन दोनों ही क्रियाओं में प्राणशक्ति का बड़ा योगदान है। प्राण के बिना ये दोनों ही सम्भव नहीं हैं। श्वास में जो ऑक्सीजन अन्दर जाती है और प्रश्वास में जो कार्बन डाइ ऑक्साइड बाहर आती है वह दोनों प्राणशक्ति के कारण ही सम्भव है।

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् ।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥[११]

वेद कहता है कि प्राण सभी प्रजाओं में समान रूप से विद्यमान रहता है। जिस प्रकार एक पिता अपनी सभी सन्तानों से प्रेम करता है उसी प्रकार प्राण भी सभी भूतों में समानरूप से विद्यमान रहता है। प्राण ही सभी भूतों का ईश्वर है, चाहे वह नेत्रेन्द्रियों के द्वारा चर और अचर रूप में दिखाई देता हो।

आधुनिक विज्ञान में अल्बर्ट आइन्स्टीन के द्वारा एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दिया गया जो "एकीकृत क्षेत्र सिद्धान्त" (Unified Field

---

[१०] अथर्व. ११/४/८

[११] अथर्व. ११/४/१०

Theory)[१२] के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह सङ्कल्पना की गई कि विज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित जो चार भौतिक बल हैं उन सभी के मूल में एक मुख्य बल कार्य करता है। वे चार बल इस प्रकार हैं-

- Gravitational Force
- Electro-Magnetic Force
- Strong Interaction Force
- Weak Interaction Force

} Unified Field Theory

इसी मान्यता को "एकीकृत विद्युत क्षेत्र" नाम से जाना जाता है और आइन्स्टीन ने अपने जीवन के अन्तिम चरण में इसी को गहराई से समझने में अपना अधिकांश समय लगाया। इसी मान्यता को वेद में कहा गया "प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न।"

प्राणः मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्॥[१३]

प्राण ही मृत्यु अर्थात प्रलय को करने वाला है और प्राण ही जीवन को देने वाला है। प्राण की इस अद्वितीय योग्यता के कारण ही देवता इसकी विभिन्न प्रकार से उपासना करते हैं। जो व्यक्ति इस सत्य की उपासना करता है और इस सत्य को का प्रचार-प्रसार करता है, उसको यही प्राण उत्तम लोक में प्रतिष्ठित करता है।

विद्वान् बनने की प्रक्रिया का साधारण सा अर्थ यह है कि उस तथ्य को गहराई से समझ जाना जिसको सामान्य लोग नहीं समझ पाते। ऐसे दार्शनिक व विश्लेषणात्मक समझ वाले कुछ ही चिन्तनशील व्यक्ति होते

---

[१२] मुळे, गुणाकर, आइन्स्टाईन और ब्रह्माण्ड

[१३] अथर्व. ११/४/११

हैं, जो दैनिक जीवन में सामान्य सी प्रतीत होने वाली घटनाओं को गहनता से समझ पाते हैं और उनके पीछे के रहस्य को जानकर समाज को बताने में समर्थ होते हैं। ऐसे विद्वान् व्यक्तियों के लिए समान परिस्थितियां ही विशेष बन जाती हैं और यह लोक ही उत्तम लोक बन जाता है। अत: अथर्ववेद कहता है कि "प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्"।

डॉ. अब्दुल कलाम, होमी जहांगीर भाभा, श्रीनिवास रामानुजन, जगदीश चन्द्र बोस, सी. वी. रमन आदि भारत के महान् वैज्ञानिक ऐसे ही उदाहरण हैं जो अपने–अपने क्षेत्र की प्राकृतिक घटनाओं के रहस्य को समझ सके और उनकी नई व्याख्या करके वे लोग अमर हो गए, तो हम भी प्राण की उपासना करें जिससे हम भी प्रकृति के अनेक रहस्यों को समझ सकें और यह लोक हमारे लिए उत्तम लोक बन सके।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुन: ॥[१४]

जन्म से पूर्व गर्भावस्था के दौरान शिशु की स्थिति में भी प्राणशक्ति का अद्भुत योगदान होता है। यद्यपि इस अवस्था तक शिशु इस लोक में स्वतन्त्र रूप से नहीं आता, तथापि वह जीवित रहता है और धीरे-धीरे विकसित होता रहता है। यह सब प्राणशक्ति के कारण ही सम्भव है। माता के श्वास-प्रश्वास के कारण ही शिशु की श्वसन क्रिया चलती रहती है। माता जो भी पदार्थ खाती है, शिशु को भी उसका अंश मिलता रहता है और उसका शारीरिक विकास होता रहता है।

आगे वेद कहता है कि "यदा त्वं प्राणजिन्वसि" अर्थात् हे प्राण! जब तुम प्रेरित करते हो, तभी वह जीव इस लोक में पुन: जीवन को प्राप्त

[१४] अथर्व. ११/४/१४

करता है। प्राणशक्ति के कारण ही जीव जन्म को प्राप्त करता है और इस लोक में अपना अस्तित्व भी बनाए रखता है।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥[१५]

पेड़ पौधों और वनस्पतियों के लिए भी प्राणशक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वर्षा के रूप में यही प्राण फसलों व पेड़-पौधो को प्राप्त होता है और उनकी वृद्धि में सहायक होता है। वर्षा का जल वनस्पति के लिए जीवनदायक होता है गर्मी की उमस में जो पौधे कमजोर भी पड़ जाते है। जो भूमि यदि सूखी भी हो जाती है, तो वर्षा का जल उनके लिए प्राण प्रदाता के रूप में आता है। बंजर भूमि को नरम कर देता है और कमजोर पौधों को मजबूती प्रदान करता है। वेद के मन्त्र की उक्त पंक्ति "**ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः**" इसी भाव को व्यक्त करती है। वर्षा के जल में उपस्थित वह प्राणतत्व वनस्पतियों व भूमि के लिए औषधि के रूप में सिद्ध होता है।

वर्ष १९७३ में Dr Arun Kumar Mishra (Botany) ने अपने शोधपत्र "Consciousness in Plants" में यह स्पष्ट शब्दों में लिखा-

We consider both plants and animals as living. We call all animals conscious, but hesitate to label consciousness in plants. Everybody feels consciousness in plants and hesitates to admit so because physical manifestations of consciousness.[१६]

तब उन्होंने वेदों से लेकर रामायण, महाभारत, मनुस्मृति,

---

[१५] अथर्व. ११/४/१७

[१६] www.esalq.usp.br/lepse/imgs/conteudo thumb/Consciousness-in-Plants.pdf

उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र तथा अथर्ववेद[१७] आदि ग्रन्थों को अपने लेख में वर्णित किया।

अथर्ववेद में वर्णित सूक्तों में अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण विद्याओं का वर्णन है, जिनका लाभ किसी भी क्षेत्र-विशेष के लोगों के लिए न होकर समस्त मानव जाति के लिए है। प्राण विद्या को सामान्यत: श्वास और प्रश्वास के रूप में ही जाना जाता है, परन्तु प्राण सूक्त का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि अनेक मन्त्रों में प्राणतत्व को वर्षा में, गर्भ में, सूर्य में, अग्नि में, जल में इत्यादि प्रकृति के अङ्गों में विद्यमान बताया गया है। अत: प्राणविद्या का सम्यक् रूप वेद के इस प्राणसूक्त में प्राप्त होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

१. सातवलेकर, दामोदर, *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य (चतुर्थ भाग)*, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी जिला-बलसाड, १९९३

२. *अथर्ववेद संहिता (सरल हिन्दी भावार्थ सहित)*, सं० श्रीरामशर्मा आचार्य, युग निर्माण योजना, मथुरा, २००८

३. Jitatmananda Swami, *Holistic Science and Vedanta,* Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay-४००००७, १९९३

४. Jitatmananda Swami, *Modern Physics and Vedanta,* Bhartiya Vidya Bhavan,Bombay-४००००७, १९९३

५. Nandy Ashish, *Alternative Sciences,* Oxford University Press, UK, १९९५.

६. Satavalekar, Damodar, *Atharvaveda ka subodha Bhashya*, Distt. Pardi, १९९२.

७. Capra Fritjof, *The Tao of Physics,* Shambhala, Berkeley

[१७] Atharvaveda though in a poetic way describe the attribute of sense of hearing in plants.

(now Boston), १९७५.

८. Capra Fritjof, *Hidden Connections,* Flamingo, London, २००३.

९. Capra Fritjof, *Web of life,* Doubleday, New York, १९९६ and १९९७.

१०. http://www.esalq.usp.br/lepse/imgs/conteudo_thumb/Consciousness-in-Plants.pdf

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अणुवाक्: pavamani86@gmail.com